卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

ॐ

श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प ३०

समाधि दीपक

सम्पादिका

श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमतीजी

प्रकाशक

जिनराज जैन

2/26, अन्सारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली - 110002

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना।।

अर्थ :—बहुत काल तक किये हुए उग्र तपों का पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञान का एक मात्र फल समाधिमरण पूर्वक मरण करना ही है।

लेजरसेट **ऍलिट-आर्ट,** विजय पार्क, मौजपुर, दिल्ली-110 053

Printed in India

Published by Shri Jinraj Jain, 2/26, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-2 and Printed at Taj Press, Maya Puri, New Delhi-64.

दो शब्द

"अन्तः क्रियाधिकरणं" तपः पूत जीवन का अन्तिम कर्तव्य सल्लेखना है, इसीलिए आचार्यों ने चरणानुयोग के प्रायः सभी ग्रंथों में समाधिमरण का प्रतिपादन किया है। समाधिमरण की विधि का सांगोपांग वर्णन शिवकोटि आचार्य कृत 'मूलाराधना' ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ की पं० सदासुखदासजी कृत हिन्दी टीका है जो "भगवती आराधना" के नाम से प्रसिद्ध है।

अपने कर्तव्यों का सम्यक्ज्ञान करने के लिये साधुवर्ग इस परमोपकारी महाग्रंथ का अपने जीवनकाल में तो कई बार स्वाध्याय करते ही हैं, किन्तु ऐसा भी अनुभव में आया है कि जब भी कोई साधु समाधि के सम्मुख होते हैं, तब उनके सान्निध्य में गुरुजनों के द्वारा सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ का स्वाध्याय किया जाता है। **इस ग्रन्थ में उपसर्ग प्राप्त अनेक मुनिराजों के नाम आये हैं, जिनकी कथाएँ अधिकांशतः आराधनाकथाकोष आदि ग्रंथों में प्रकाशित हो चुकी हैं।**

समाधिमरण की सफलता आलोचना पर निर्भर है। यदि क्षपक ने अपने दोषों की आलोचना गुरु के समीप निर्दोषरीत्या की है, तो समाधि ठीक होती है और यदि आलोचना ही मायादोष से युक्त हुई है, तो समाधि नियम से बिगड़ती है। यह बात आगम-प्रत्यक्ष तो है ही किन्तु अनुभव प्रत्यक्ष भी है, इसीलिए ऐसे भाव बन रहे थे कि जिस प्रकार दशभक्त्यादि संग्रह सदैव साधुओं के साथ रहता है, उसी प्रकार आलोचना के दस दोषों से होने वाली हानियाँ, समाधिमरण के अतिचार और पण्डित सूरचन्द कृत बड़े समाधिमरण में उल्लिखित उपसर्ग प्राप्त मुनिराजों की कथाओं का संग्रह भी निरन्तर साथ रखना चाहिए जिससे कल्याणेच्छु साधु उसका पुनः पुनः अनुप्रेक्षण करके निर्दोष आलोचना करने के अपने संस्कार दृढ़ बनाते रहें। इसी भावना की पूर्ति के लिए 'मूलाराधना' 'अपर नाम भगवती आराधना' प्रकाशित दि० जैन समाज कलकत्ता, सकलकीर्ति गणि विरचित, 'समाधिमरणोत्साह दीपक'—वीरसेवा मन्दिर दिल्ली, 'मृत्यु महोत्सव' पं० सदासुखदासजी कृत हिन्दी, 'सल्लेखनाया समाधिमरण' सम्पादक श्री स्व० पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, 'सागार धर्मामृत' प्रकाशिका सौ० भंवरीदेवी पाण्डया और 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' सम्पादक पं० डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, आदि ग्रन्थों से प्रसंग प्राप्त प्रकरणों को यथावत् एवं यत् किञ्चित् परिवर्तन के साथ संग्रहीत कर "समाधि दीपक" के नाम से प्रस्तुत किया गया है। सभी कथाएँ प्रायः आराधनाकथाकोष से ली गई हैं।

सन् १९७५ के सवाई माधोपुर वर्षायोग में पं० लाडलीप्रसादजी "नवीन" के सौजन्य से किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित एक जीर्ण-शीर्ण शास्त्र के हस्तलिखित मात्र बारह पत्र अर्थात् २४ पृष्ठ प्राप्त हुए थे। इसमें लेखक ने समाधिमरण धारण करने वाले गृहस्थ के माध्यम से सुन्दर उद्बोधन प्रस्तुत किये हैं। भेद विज्ञान प्राप्त

करने के लिए भी इसमें बहुत हृदयग्राही सामग्री है, इसकी भाषा एकदम ढूँढ़ारी है। लिपि सुवाच्य किन्तु अत्यन्त अशुद्ध है। इस (म्हाणें थाणें) भाषा को लिखने का मुझे अभ्यास नहीं और मेरी समझ से जनसाधारण में उसका उपयोग भी नहीं होता, अतः मैंने इसका भाषान्तर किया है। अपनी ओर से मैंने इसमें कुछ भी हीनाधिकता नहीं की है। यहाँ तक कि वाक्य-रचना को सुन्दर बनाने के लिए नवीन पदों एवं शब्दों का चयन भी नहीं किया। उसमें जहाँ जैसे शब्द थे उन्हीं को खड़ी बोली में लिख दिया है।

इस ग्रन्थांश का प्रकाशन विषय की दृष्टि से और अज्ञात लेखक की प्राचीन कृति को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया जा रहा है, आशा है समाज इसकी सुन्दर शिक्षा को हृदयङ्गत करेगा।

पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन प० पू० आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज के ७१वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में सन् ७६ में श्रीमती बसन्तीदेवी (फर्म श्री कन्हैयालालजी सीतारामजी पाटनी कलकत्ता) द्वारा प्रदत्त द्रव्य से ब्र० लाड़मलजी द्वारा आचार्य श्री शिवसागर ग्रन्थामाला के १०वें पुष्प के रूप में हुआ था। गत वर्षों में पुस्तक की उपयोगिता के कारण अब यह उपलब्ध नहीं है।

'समाधि' ग्रहण के प्रसंगों पर इसकी माँग बराबर बनी रहती है जिसकी पूर्ति नहीं हो पाती। अतः इसे संशोधित, परिवर्धित कर पुनः मुद्रित किया जा रहा है। पुस्तक के कलेवर को बढ़ाने के कई सुझाव प्राप्त हुए थे कि मूलाराधना के सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण का विवेचन करने वाले चालीस सूत्रों (गा० ६७ से ७० तक अध्याय दूसरा) को भी यहाँ उद्धृत किया जाता तो बड़ा उपयुक्त होता परन्तु ग्रन्थ को लघुकाय बनाए रखने के लिए ही ऐसा नहीं किया जा रहा है। उनमें से कुछ अत्यावश्यक सूत्रों की विवेचना ही की जा रही है। पुस्तक सरल, बोधगम्य और सर्वजनोपयोगी बन सके इसीलिए इसे शास्त्रीय पाण्डित्य से बोझिल नहीं बनाया गया है।

आशा है यह छोटी-सी पुस्तक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकेगी।

महावीर जयन्ति सं० २०४०

—आ० विशुद्धमति

कहाँ क्या है ?

विषय	पृष्ठ
मृत्यु अवश्यंभावी है	१
सल्लेखना का लक्षण	२
सल्लेखना कब करना चाहिए	२
सल्लेखना धारण क्यों करना चाहिए	४
सल्लेखना का काल	५
अरिष्ट लक्षण	६
पिण्डस्थ रिष्टों का विवेचन	६
पदस्थ रिष्टों का विवेचन	७
रूपस्थ रिष्ट	८
निर्यापकाचार्य की खोज	८
निर्यापकाचार्य के गुण	९
निर्यापक	९
आत्म-समर्पण	९
समाधिसाधक सामग्री का निरीक्षण या परीक्षा	१०
आपृच्छा	१०
क्षमा-याचना	१०
अलोच्य स्थान कैसा हो	११
दिशाओं का विवेचन	११
आलोचना के पूर्व क्षपक को आचार्य का उपदेश	११
व्रतशुद्धि पर साक्षी में ही होती है	११
गारव	१२
आलोचना के दस दोष	१४
आलोचना	१९
गुरु का कर्तव्य	१९
वसतिका	१९
इच्छाकार	२०
शय्या अथवा संस्तर	२०

विषय	पृष्ठ
संस्तर की दिशा	२१
शय्या-आरोहण	२१
परिचारकों की संख्या का प्रमाण	२१
परिचारकों में कार्य विभाग	२१
क्षपक का कर्तव्य	२३
आहार प्रकाशन	२३
तीन प्रकार के आहार का त्याग	२३
पानकों के प्रकार एवं लक्षण	२३
पानकाहार का त्याग	२५
कुल्ला कराना	२५
वैयावृत्य	२५
क्षपक को निर्यापकाचार्य का सदुपदेश	२६
संघश्री मन्त्री की कथा	२७
सम्यक्त्व के उपकारों का दिग्दर्शन	२८
राजा पद्मरथ की कथा	२९
णमोकार मंत्र के चिन्तन का उपदेश	३०
सुभग ग्वाले की कथा	३०
ज्ञानोपयोग की महत्ता का उपदेश	३१
यम राजा की कथा	३२
चरित्राराधना की शुद्धि का उपदेश	३३
तपाराधना की शुद्धि का उपदेश	३४
धर्मध्यान में रत रहने का उपदेश	३४
वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं का उपदेश	३५
क्षुधावेदना शमन करने का उपदेश	३५
तृषावेदना शमन करने का उपदेश	३७
सुकुमाल मुनि की कथा	३८
सुकोशल मुनिराज की कथा	३९
गजकुमार मुनिराज की कथा	४०
सनतकुमार मुनि की कथा	४१
समन्तभद्र मुनिराज की कथा	४२

विषय	पृष्ठ
ललितघटादि बत्तीस मुनियों की कथा	४३
धर्मघोष मुनिराज की कथा	४४
श्रीदत्त मुनिराज की कथा	४५
वृषभसेन मुनिराज की कथा	४६
अभयघोष मुनिराज की कथा	४७
विद्युच्चर मुनिराज की कथा	४८
चिलाती मुनिराज की कथा	४९
धन्य मुनिराज की कथा	५०
अभिनन्दनादि पाँच सौ मुनिराजों की कथा	५२
चाणक्य मुनिराज की कथा	५३
पाण्डवों की कथा	५४
पणिक मुनिराज की कथा	५५
सल्लेखनाजन्य अतिचारों के त्याग का उपदेश	५६
निर्यापकाचार्य का अंतिम कर्तव्य	५७
समाधिमरण का फल	५७
क्षपक के शव को क्षेपण करने का स्थान	५८
किस दिशा में हो	५८
प्रत्येक दिशा की निषीधिका का फल	५८
समाधिमरण के उपरांत क्या करें	५९
क्षपक के शव क्षेपण का विधान	५९
विषय संस्तर का फल	६०
शव के अंतिम संस्कार के पश्चात् संघ का कर्तव्य	६१
समाधिग्रहण नक्षत्र से मरणकाल का ज्ञान	६१
समाधिमरण संबंधी उद्बोधनों का भाषांतर	६४
समाधिमरण (श्री शिवलालजी)	७७
समाधिमरण (पं० सूरचन्दजी)	७९
भावना	८५
समाधिमरण भावना	८६
जब प्राण तन से निकलें	८७

पार्श्वप्रभु के चरणयुग, पूजूँ मन वच काय।
हो समाधि, बल यह मिले, जन्म-मरण नश जाय।।

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यों में जीव द्रव्य सर्वोपरि है, क्योंकि वह चैतन्य गुण से उपलक्षित है। जीव अनन्तानन्त हैं उनमें से अनन्त जीव तो अपने समीचीन पुरुषार्थ के द्वारा शुद्धात्मानुभूतिके अवलम्बन से अपने स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा के अभाव में संसार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच अनादि काल से पिसते चले आ रहे हैं। रात और दिन के सदृश जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म का अनादि प्रवाह सम्बन्ध प्रत्येक संसारी प्राणी के साथ है।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" इस नीत्यनुसार जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म अवश्यम्भावी है। आयुक्षय के कारण प्राप्त होने पर शरीर का अथवा दस प्राणों के विनाश का नाम मृत्यु है और आयुकर्म के उदयवशात् मनुष्य आदि स्थूल व्यञ्जन पर्यायों में दश आदि प्राणों के साथ जीव का आविर्भाव होना जन्म है। जन्म लेने के बाद देव तथा तिर्यंच आदि व्यञ्जन पर्याय में जीव का अवस्थान अधिक से अधिक ३३ सागर और कम से कम एक श्वास के अठारहवें भाग अर्थात् क्षुद्रभवप्रमाण है। मध्यम अवस्थान के असंख्यात भेद हैं। इस स्थिति में यदि हम त्रैराशिक विधि के अनुसार भूतकाल में होने वाले अपने मरणों की संख्या निकालें तो अनुमान कीजिये कि वह कितनी होगी ? अनन्तानन्त से कम तो नहीं होगी। अर्थात् अनन्तानन्त बार यह जीव जन्म और मरण कर चुका है, फिर भी इसे इन क्रियाओं में अनादर उत्पन्न नहीं हुआ, यह महान् आश्चर्य है। "अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरित" इस नीत्यनुसार भी जन्म-मरण की इन अतिपरिचित क्रियाओं में अवज्ञा होना चाहिये थी किन्तु नहीं हुई, इसी कारण यह संसार भी नहीं छूटा।

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्" अर्थात् मरना देहधारियों का स्वभाव है और "स्वभावोऽतर्कगोचरः" स्वभाव में तर्क नहीं चलता फिर मरण से भय क्यों ? क्या हमारे डरने पर यह मरण हमें डरपोक समझकर छोड़ देगा ? क्या मरण से कोई रक्षा कर सकेगा ? नहीं। फिर मरण-समय कायरता और कातरता क्यों ? मानव को भय तो उन विषयों में होता है

फिर मरण-समय कायरता और कातरता क्यों ? मानव को भय तो उन विषयों में होता है जिनका उसे परिचय नहीं होता, किन्तु हमारा तो इस मरण से मात्र एक दो बार नहीं प्रत्युत अनन्त बार परिचय हो चुका है तथा इस क्रिया का रोगादि के द्वारा, क्षुधादि के द्वारा, अति शीत, अति उष्णता के द्वारा या तीव्र क्रोधादि के आवेश में आकर विषभक्षणादि के द्वारा एवं अज्ञानतावश अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, श्वासनिरोध, शस्त्रप्रयोग एवं गिरि-पात आदि के द्वारा मरण करके खूब अभ्यास भी किया है, फिर भी हमें इस मृत्यु से भय ही होता है; क्योंकि अभी तक हमें इसकी यथार्थता का परिचय नहीं हुआ। जिन महापुरुषों ने मरण की यथार्थता को आत्मसात कर लिया है उन्होंने मरण को मृत्यु महोत्सव कहा है, क्योंकि मृत्यु सदृश हमारा उपकारी अन्य कोई नहीं है।

मृत्यु की विलक्षणता का समीचीन दिग्दर्शन जैनदर्शन कराता है जैनदर्शन जिस प्रकार जीवन के मार्ग को प्रशस्त बताता है, उसी प्रकार मरण के मार्ग को भी प्रशस्त बताता है और मरण की इसी प्रशस्तता का अपर नाम सल्लेखना या समाधिमरण है।

सल्लेखना का लक्षण :–

"सम्यक्कायकषायलेखना, कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणाहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना" (पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२) अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शरीर और रागादि कषायों को उनके कारणों को क्रमशः कम करते हुए स्वेच्छापूर्वक कृश करने का नाम सल्लेखना या समाधिमरण है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, त्याग और संयम आदि गुणों के द्वारा चिरकाल तक आत्मा को भावित करने के बाद आयु के अन्त में अनशनादि विशेष तपों के द्वारा शरीर को और श्रुतरूपी अमृत के आधार पर कषायों को कृश करना ही सल्लेखना है। जिस प्रकार मूल (जड़) से उखाड़ा हुआ विषवृक्ष ही प्रयोजन की सिद्धि करता है, मात्र शाखाओं, डालियों एवं पत्रों आदि का काटना नहीं; उसी प्रकार कषायों की कृशता के साथ की हुई कायकृशता ही प्रयोजन की संरक्षिका है, मात्र काय की कृशता नहीं।

सल्लेखना कब करना चाहिए :–

प्रतिदिवसं विजहद् बलमुज्झद् भुक्ति त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम्।।

अर्थात् चिरकाल से पोषित इस शरीर की शक्ति जब प्रतिदिन क्षीण हो रही हो भोजन छूट रहा हो, रोगादिक का प्रतीकार न हो सके, ऐसा अवसर आने पर मनुष्य को समाधिमरण धारण करना चाहिये।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण इन पांच शरीरों में से औदारिक शरीर की उत्पत्ति एवं रचना अत्यन्त घृणास्पद तत्वों अर्थात् हड्डी, मांस, रुधिर और चर्म आदि से होती है तथा इसकी अवस्थिति भी इसके योग्य भोजन-पान एवं अन्य पोषक पदार्थों के बिना नहीं होती। अर्थात् यह औदारिक शरीर अधिक प्रयत्नों द्वारा रक्षित रहता है और अति अशुचि है, किन्तु रत्नत्रय का आधार होने से आत्मा को मोक्षमहल में ले जाने में (अन्धे की लकड़ी के सदृश) सहायक भी यही होता है, 'आचारसार' में श्री वीरनन्दि आचार्य कहते हैं कि जब चूल्हे में जलाई जाने वाली लकड़ी भी सिर पर रखकर लाई जाती है तब मोक्षप्राप्ति का साधनभूत यह शरीर प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय नहीं है क्या ? अवश्य है, किन्तु इसकी रक्षा तभी तक योग्य है जब तक यह हमारे रत्नत्रय के पालन में सहयोगी है, इसके बाद तो इसे सल्लेखनापूर्वक कृश ही करना चाहिये। इसी बात को पूज्यपाद स्वामी दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं कि :—

मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः, तद् विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति च परिहरति, दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा प्रयतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते। (स० सि० ७-२२)

"मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकार के रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार करने वाले किसी व्यापारी को अपने गृह का विनाश इष्ट नहीं है; यदि कदाचित् उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जायँ तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल नहीं होता तब घर में रखे हुए उन बहुमूल्य पदार्थों को निकाल लेता है और घर को अपनी आँखों के सामने ही नष्ट होते देखता है। इसी प्रकार व्रतशीलादि गुणों का अर्जन करने वाले श्रावक और साधु उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की रक्षा पोषक आहार-औषधि आदि के द्वारा करते हैं, उसका नाश उन्हें इष्ट नहीं। यदि शरीर में असाध्य रोग आदि उपस्थित हो जायँ तो वे उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करते हैं और जब उनका दूर होना अशक्य मालूम होता है तब सल्लेखना द्वारा अपने आत्म गुणों की रक्षा करते हैं और शरीर को नष्ट होने देते हैं।

सकलकीर्त्याचार्य सल्लेखना अंगीकार करने के कारण बतलाते हुए कहते हैं कि—

मन्दाक्षत्वेतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये।
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यये।।१७।।
धर्मध्यान-तनूत्सर्गहीयमानादिके सति।
संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये।।१८।।

—समाधिमरणोत्साह दीपक

"इन्द्रियों की शक्ति मन्द होने पर, अतिवृद्धता, उपसर्ग एवं व्रतक्षय के कारण उपस्थित होने पर, महान् दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य और तीव्र रोग आ जाने पर, जंघाबल (कायबल) क्षीण हो जाने पर धर्मध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर, विद्वानों को चाहिये कि मोक्ष (आत्म कल्याण की) प्राप्ति के लिये समाधिमरण ग्रहण करें"।

जिसका कोई प्रतिकार न हो सके ऐसा असाध्य रोग उपस्थित होने पर; रूप, बल, बुद्धि और विवेकादि गुणों का नाश करने वाली वृद्धावस्था आ जाने पर; देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा आकस्मिक उपसर्ग आ जाने पर; चक्षु या कर्ण इन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाने पर और 'भविष्य में समाधि कराने वाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे' ऐसा भय उत्पन्न हो जाने पर साधु को सल्लेखना धारण करनी चाहिये। (मूलाराधना गा० ७५ पृ० ५९-६०)

इनके सिवा और भी अनेक कारण हैं जिनके उपस्थित होने पर आत्मार्थी को मृत्यु का सहर्ष आह्वान करते हुए सल्लेखना धारण कर लेना चाहिये, यथा—जल में बह जाने पर, एकाएक दृष्टि चले जाने पर, अटवी आदि में भटक जाने पर, मार्ग न मिलने पर तथा कर्ण आदि इन्द्रियों के निस्तेज हो जाने पर सल्लेखना धारण कर लेना चाहिये।

समन्तभद्राचार्य सल्लेखना का लक्षण इस प्रकार कहते हैं :—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।१।। रत्नक० श्रा०

गणधरादि देव प्रतीकाररहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धता और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिये शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं।।१।।

अचानक उपद्रव उपस्थित होने को उपसर्ग कहते हैं। तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होने से उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं। ऐसे प्रतीकाररहित उपसर्ग आदि के उपस्थित होने पर अपने रत्नत्रयगुणों की रक्षा के लिये कल्याणार्थी जीवों को सल्लेखना धारण कर लेना चाहिये।

सल्लेखना धारण क्यों करना चाहिये :—

मृत्यु प्रायः परप्रत्यय से आती है अर्थात् मृत्यु आने के पूर्व कोई-न-कोई कारण अवश्य उपस्थित हो जाता है। इन्हीं कारणों को देखकर देह में आत्मबुद्धि रखने वाले अज्ञानी जन येन केन प्रकारेण अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार न रखते हुए इस भौतिक शरीर के संरक्षण की व्यग्रता को प्राप्त होते हुए हाय-हाय करते हैं, किन्तु जैनधर्म के मौलिक तत्त्वों को समझने वाले तथा आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय समझने वाले मोक्षार्थी जीव संकटावस्थाओं में भी आत्मश्रद्धा से च्युत नहीं होते अपितु उसकी रक्षा के लिये समतापूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देते हैं।

आत्मा शरीर से भिन्न है इस भेदविज्ञान की दृढ़ता के लिए जिन्होंने चिरकाल तक व्रत, तप, संयम एवं शीलादि का दृढ़तापूर्वक पालन किया है उन्हें अपने इस चारित्र रूपी मन्दिर के ऊपर सल्लेखना रूपी कलश अवश्य चढ़ाना चाहिये। यदि वे संन्यासक्रिया में कायरता लाते हैं तो उनके जीवन भर के तपश्चरण का श्रम उसी प्रकार निष्फल हो जाता है, जिस प्रकार चिरकाल से शस्त्रों का अभ्यास करने वाले राजकुमार का श्रम युद्ध क्षेत्र में चूक जाने पर निष्फल हो जाता है। इसलिये समन्त-भद्राचार्य कहते हैं कि–

अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।। २।।

सर्वज्ञ भगवान् संन्यास धारण करने को तप का फल कहते हैं, इसलिये यथाशक्ति समाधिमरण के विषय में प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् संन्यास धारण करना ही तपश्चरण आदि का फल है अतः इस अन्तिम क्रिया का आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

लोक में व्रत, तप, संयम और चारित्र आदि के फल अनेक प्रकार से प्राप्त होते देखे जाते हैं। इनके फलस्वरूप जीवों को स्वर्ग के अनुपम भोग, बलभद्र, चक्रवर्ती, नारायण और प्रति-नारायण आदि के पद तथा आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र आदि परिकर, इच्छित वैभव और सुन्दर-सुडौल शरीर आदि की भी प्राप्ति हो जाती है किन्तु समाधिमरण की क्रिया के अभाव में संसार का छेद शीघ्र नहीं हो पाता; जबकि सल्लेखनापूर्वक शरीर-परित्याग से संसार की अवधि सात आठ भव से अधिक नहीं रहती इसलिए सल्लेखनारूपी असिधाराव्रत का पालन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वपूर्वक किन्तु समाधिमरणरहित तपश्चरणादि करने वाला प्राणी अधिक से अधिक कुछ काल कम अर्धपुद्गलपरावर्तन तक संसार-परिभ्रमण कर सकता है, किन्तु सम्यक्त्वसहित तप एवं चारित्र धारण करने वाले जीव यदि मरणसमय में संन्यास विधि का आश्रय लेते हैं तो वे अल्पकाल में ही मोक्ष के भाजन बन जाते हैं।

सल्लेखना का काल :–

इस निःकृष्ट पञ्चम काल में उत्तम संहनन नहीं होते अतः इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यास की प्राप्ति अति दुर्लभ है, मात्र भक्तप्रत्याख्यान संन्यास साध्य है। आचार्यों ने इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। मध्यम काल के असंख्यात भेद हैं। पूर्वकथित कारण उपस्थित होने पर तो यम अथवा नियम सल्लेखना धारण करनी ही चाहिये किन्तु निमित्तज्ञान से अपनी अल्प आयु का निर्णय करके भी सल्लेखना धारण करनी चाहिये।

मानव की मृत्यु के पूर्व उसके शरीर में कुछ ऐसे लक्षण प्रगट होते हैं, जिन पर ध्यान देने से आयु का निर्णय किया जा सकता है। आचार्य दुर्गदेव कहते हैं कि–

पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं होइ तं पि तिवि अप्पं।
जीवस्स मरणकाले रिट्ठं नत्थि त्ति संदेहो।। १७।। (रिष्टसमुच्चय)

इसमें सन्देह नहीं कि मरण-समय में पिण्डस्थ (शारीरिक) पदस्थ (चन्द्र, सूर्य आदि आकाशीय ग्रहों के दर्शनों में विकृति) और रूपस्थ (निजच्छाया, परच्छाया आदि अंगविहीन दर्शन) इन तीन प्रकार के अरिष्टों का आविर्भाव होता है।

अरिष्ट लक्षण :–

मरण के पूर्व प्रगट होने वाले इन लक्षणों को अरिष्ट कहते हैं, अतः आचार्य अरिष्टों द्वारा आयु का परिज्ञान कर सल्लेखना ग्रहण की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि–

इदि सल्लिहिद सरीरो भविओ जो अणसणेण वरमरणं।
इच्छइ सो इह भालइ इमाइं रिट्ठाइं जंतेण।। १४।। रि० स०

जो भव्य पुरुष सल्लेखना करता हुआ अनशन–आहार को क्रमशः कम करते हुए पूर्ण त्याग द्वारा श्रेष्ठ मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है, उसे ध्यानपूर्वक अरिष्टों का सप्रयत्न परिज्ञान, करना चाहिये।

जो व्यक्ति निरन्तर विषय–कषायों में रत रहते हैं वे इन अरिष्ट आदि महत्वपूर्ण लक्षणों को नहीं समझ पाते और यदि समझ भी लें तो आयु का निर्णय करने के बाद भी आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये आचार्य कहते हैं कि–

आराहणापडायं जो गिण्हइ परिसहे य जिणीऊण।
संसारम्मि अ ठिच्चा वोच्छे हं तस्य रिट्ठाइं।। १५।। रि० स०

मैं उस व्यक्ति के अरिष्टों का वर्णन करता हूँ, जो संसार में रहते हुए परीषहों को जीतकर आराधना रूपी पताका-सल्लेखना को ग्रहण करना चाहता है।

पिण्डस्थ रिष्टों का विवेचन :–

मृत्यु से कुछ समय पूर्व शरीर की स्थिति बनाये रखने वाले परमाणुओं में विपर्यास आ जाता है जिससे उसकी इन्द्रिय-शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर संघटित परमाणु विघटित होने की ओर अग्रसर होने लगते हैं। तब धैर्य और स्मृति में भी न्यूनता आने लगती है। यही प्रक्रिया शारीरिक अरिष्टों की सूचक है। अब "भणियं पिण्डस्थं जिणयणुसारेण" जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार पिण्डस्थशारीरिक रिष्टों द्वारा आयु निर्णय के कुछ प्रयोगों का दिग्दर्शन करते हैं। यथा :–

जिस व्यक्ति को अपने पैर दिखाई न दें तो उसे अपनी आयु तीन वर्ष, जंघा दिखाई

न देने पर दो वर्ष, घुटना दिखाई न देने पर एक वर्ष, वक्षस्थल दृश्यमान न होने पर दस माह, कटिप्रदेश न दिखने पर सात महा, कुक्षि दिखाई न देने पर चार माह, गर्दन दिखाई न देने पर एक माह, हाथ न दीखने पर १५ दिन, बाहु दिखाई न पड़ने पर आठ दिन, कन्धा दिखाई न दे तो तीन दिन और नख एवं दाँत आदि विकृत हो जायँ तो १० दिन की आयु शेष समझना चाहिये। जिस व्यक्ति के धैर्य और स्मृति नष्ट हो जायँ, जो चलने में असमर्थ हो जाय, जिसे निद्रा बिल्कुल न आवे या अत्यन्त आने लगे, वह चार मास जीवित रहता है।

जो व्यक्ति स्थिर होने पर भी काँपता रहे, एकाएक मोटे से पतला या पतले से मोटा हो जाय, अपना हाथ सिर पर रखकर सोवे, गले में डालने पर जिसकी अँगुलियों का दृढ़ बन्धन न हो, जो दूसरों के केशों एवं सूर्य-चन्द्र के प्रकाश को स्पष्ट न देख सके, जिह्वा इन्द्रिय और लिंग इंद्रिय (उपस्थ) काले पड़ जायँ या विकृत हो जायँ, रसना इन्द्रिय को खट्टे-मीठे आदि का ज्ञान न हो, नख, ओष्ठ और दाँत काले हो जायँ और ललाट की बड़ी-बड़ी रेखाएं मिट जायँ, वह व्यक्ति एक मास जीवित रहता है। (एक साथ सब चिह्न प्रगट नहीं होते कोई एकाध चिह्न प्रगट होता है)

जिसका शरीर कान्तिहीन हो जाय, बाहर निकलने वाला श्वास तेज हो जाय, तेज सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव न हो, स्नान करने के बाद पहिले वक्षस्थल सूखता हो और सर्व शरीर गीला रहे तथा जो दूसरों का रूप न देख सके वह पन्द्रह दिन जीवित रहता है।

जिस व्यक्ति की आँखें स्थिर हो जायँ, शरीर कान्तिहीन और काष्ठवत् हो जाय, ललाट में पसीना आवे, मुख एकाएक खुल जाये, भौहें टेढ़ी हो जायँ, आँख की पुतली भीतर धँस जाय, मुख सफेद और विकृत हो जाय, दाँत टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने लगें तथा दुर्गन्ध आने लगे, मस्तक में विचित्र प्रकार की सनसनाहट पैदा हो जाय, शब्दों का उच्चारण यथार्थ न हो, हाथ और पैरों की अंगुलियों की जोड़ें न कड़कें, कानों के भीतर होने वाली आवाज सुनाई न दे, शरीर अकस्मात् ही निर्बल या काला पड़ जाय, मुखमण्डल कमल सदृश गोल और मनोहर हो जाय एवं कपोलों में इन्द्रगोप के समान चिह्न प्रगट हो जाय, सिर के बाल खींचने पर दर्द मालूम न हो, कान में समुद्रघोष सदृश आवाज आने पर, कानों के भीतर होने वाली ध्वनि को न सुनने पर और हथेलियों की चुल्लू न बनने पर अथवा एक बार चुल्लू बन जाने पर उसे अलग करने में यदि देर लगे तो वह व्यक्ति मात्र सात दिन जीवित रहता है। इस प्रकार छह, पांच, चार, तीन और दो आदि दिनों के भी अनेक लक्षण हैं।

पदस्थ रिष्टों का विवेचन :–

प्रकृति हमें प्रत्येक इष्टानिष्ट की सूचना दे देती है। जो व्यक्ति विज्ञ हैं, योगशक्ति से युक्त हैं तथा जिनकी आत्मा विशेष पवित्र है, वे ही प्रकृति के रहस्यमय संकेतों को समझने में समर्थ होते हैं। ये रिष्ट आकाशीय दिव्य पदार्थों में, भूमि पर और कुत्ता, बिल्ली, नेवला, सर्प, कबूतर, चींटी, कौआ एवं गाय-बैल आदि के संकेतों द्वारा जाने जा सकते हैं।

पूर्व भव के पुण्योदय से या इस भव के शुभ कार्यों से जिन व्यक्तियों में प्रमाण मनोवृत्ति वर्तमान है और जो उपपत्ति गुण का प्रयोग करना जानते हैं वे व्यक्ति यदि जिनेन्द्र भगवान की पूजन कर अथवा स्थिरचित्त होकर "ॐ ह्रीं णमोअरिहंताणं कमले कमले विमले विमले उदरदेवी इटि मिटि पुलिंहिणी स्वाहा" इस मंत्र का २१ बार जाप्य करके रिष्ट दर्शन करें तो उन्हें कई वर्ष पूर्व अपनी मृत्यु का बोध हो सकता है।

जो व्यक्ति चन्द्रमा को नाना रूपों में तथा छिद्रों से परिपूर्ण देखता है, अर्ध चन्द्र को मण्डलाकार देखता है, जो सप्त ऋषि एवं ध्रुव आदि ताराओं को नहीं देखता तथा दिन में धूप नहीं देखता, ग्रहण के अभाव में भी चन्द्रमा को ग्रहण सदृश रूप में देखता है, सूर्यबिम्ब को छिद्रपूर्ण और अनेक रूपों में देखता है वह व्यक्ति एक वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहता।

जिसे सूर्य या चन्द्र के मध्य भाग में काले या सुरमई रंग की रेखा दिखाई दे, चन्द्रबिम्ब में लाल रंग के और सूर्य में काले रंग के धब्बे दिखाई दें, सूर्यबिम्ब लोहित वर्ण का और चन्द्रबिम्ब हरित वर्ण का दिखाई दे, सूर्य-चन्द्र के बिम्बों को अथवा उनके किसी अन्त को बाणों से बिद्ध देखे, चन्द्रमा को मंगल और गुरु के मध्य देखे अथवा वह जाज्वल्यमान शुक्र ग्रह के समानान्तर दिखाई पड़े तथा मीन राशि की स्थिति चंचल मालूम हो, वह छह मास से अधिक जीवित नहीं रहता।

इस प्रकार अन्य चार, तीन और दो आदि मासों के अनेक रिष्ट दर्शन हैं जिन्हें आगम से जानना चाहिये।

रूपस्थ रिष्ट :–

जहाँ रूप दिखाया जाय वहाँ रूपस्थ रिष्ट कहा जाता है। यह छायापुरुष स्वप्नदर्शन, प्रत्यक्ष, अनुमानजन्य और प्रश्न द्वारा देखा जाता है। इसके देखने की विधि एवं अन्य सभी प्रयोग "रिष्ट समुच्चय" ग्रन्थ से जानने चाहिये।

निर्यापकाचार्य की खोज :–

इस प्रकार किसी निमित्तविशेष से अथवा अन्य अनेक प्रकारों से अपनी आयु की समाप्ति समीप जानकर अपने आचार्यादि पद एवं शिष्यादि का परिग्रह त्याग कर प्रयत्नपूर्वक निर्यापकाचार्य की खोज करनी चाहिए। अनेक गुणों से विभूषित एवं चिरकाल से गुरुकुल का सेवन करने वाले मुनिराज को अपना आचार्य पद देकर उन्हें तथा समस्त संघ को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर पश्चात् निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करना चाहिए।

जिस प्रकार छिद्रयुक्त और जर्जरित नौका समुद्र से पार उतारने में असमर्थ होती है, उसी प्रकार गुणों से रहित निर्यापकाचार्य भी क्षपक की सल्लेखना का भली प्रकार निस्तरण

करते हुए, उसकी संसारवल्लरी का छेद कराने में समर्थ नहीं हो सकता, अतः ऐसे निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करना चाहिये जो अनेक गुणों से अलंकृत हो।

निर्यापकाचार्य के गुण :–

निर्यापकाचार्य आचारवान्–पञ्चाचार से युक्त हो। आधारवान्–बहुश्रुत का धारी हो। व्यवहारवान्–गुरुपरम्परा से प्राप्त हुए प्रायश्चित्तसूत्र के ज्ञान से विभूषित हो। प्रकर्ता–सर्व संघ की वैयावृत्त्य करने में समर्थ हो। आयापायविदर्शी–**दीक्षाग्रहण के दिन से संन्यास-ग्रहण के समय तक रत्नत्रय में लगे हुए दोषों की आलोचना करते समय मायाचारी करने वाले साधु को अपाय–रत्नत्रय का विनाश और उपाय**–रत्नत्रय का लाभ, इन दोनों के गुण-दोष समझाकर मायाशल्य को दूर करने में निपुण हो। अवपीड़क–मधुर वचनों द्वारा समझाये जाने पर भी यदि क्षपक मायाचारी छोड़कर सत्यार्थ आलोचना न करे तो जैसे सिंह अपने तेज से स्याल के उदर में गये हुए मांस का वमन करा लेता है, उसी प्रकार अपने तेजस्वी वचनों द्वारा क्षपक के दोषों को बाहर निकाल कर उसे निःशल्य बना देने वाला हो। अपरिस्त्रावी जैसे सन्तप्त लौह का गोला चारों ओर से पानी का भले प्रकार शोषण (सींचता) करता है, परन्तु उसे वापिस नहीं निकालता, वैसे ही आचार्य क्षपक द्वारा कहे हुए दोषों को अन्य किसी पर प्रगट न करे। अर्थात् आचार्य गम्भीर स्वभाव वाले हों।

निर्यापक :–

शीत, उष्ण, भूख, प्यास तथा रोग की तीव्र वेदना आदि के कारण क्षुब्ध हो जाने वाले क्षपक की आराधनाओं की पूर्णता के लिए अनेक उपायों के ज्ञाता हों, वैयावृत्य करने में समर्थ हों, उपयोगी एवं संयमवर्धक विविध कथाएँ कहने में निपुण हों तथा जैसे विशाल तरंगों से युक्त समुद्र में रत्नों से भरी नौका को जिस प्रकार कुशल नाविक खेता हुआ किनारे ले जाता है, उसी प्रकार शील, संयम, तप एवं रत्नत्रय रूपी रत्नों से भरी क्षपक की समाधि रूपी नौका को संसारोदधि से पार कराने वाले हों, ऐसे अष्टगुणसम्पन्न निर्यापकाचार्य ही क्षपक की आराधना निर्विघ्न पूर्ण कराकर अपना उज्जवल यश संसार में प्रसिद्ध कर सकते हैं।

आत्म-समर्पण :–

इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न निर्यापकाचार्य का अन्वेषण कर क्षपक मन, वचन और काय की शुद्धि से कृति-कर्मपूर्वक उनकी वन्दना करे, पश्चात् विनय करे कि हे भगवन् ! आप श्रुत के पारगामी हो, श्रमणसंघ के उद्धारक हो, परम हितकारी हो, जगत् के निर्व्याज बन्धु हो और संयमगुणों से परिपूर्ण मेरे तप रूपी जहाज को परीषह रूपी लहरों के क्षोभ से बचाते हुए संसार-समुद्र से पार कराने वाले खेवटिया हो, अतः हे स्वामिन्! जिस दिन से मैंने दीक्षा ग्रहण की है उस दिन से आज तक के समस्त दोषों की सम्पूर्ण आलोचना आपके चरणकमलों में करके अपनी संयम और तपश्चरण को सफल बनाने के लिए मैं सल्लेखना ग्रहण करना चाहता

हूँ। हे गुरुवर ! आपके अवलम्बन के बिना मेरे इस सल्लेखना रूपी असिधारा व्रत का निस्तरण सुचारू रूप से नहीं हो सकता, अतः आप मुझे ग्रहण करने की कृपा कीजिये, मैं अपना सम्पूर्ण जीवन आपके पवित्र चरण-कमलों में समर्पित कर रहा हूँ, आज से मेरे विषय में आप जो आज्ञा करेंगे वह सब मुझे प्रमाण होगी।

समाधिसाधक-सामग्री का निरीक्षण या परीक्षा :–

आचार्य उस समय समाधि की इच्छा रखने वाले मुनिराज को मधुर वाणी से सान्त्वना देकर क्षपक की समाधि निर्विघ्नतापूर्वक होगी या नहीं, इसकी जानकारी के लिए देवता के उपदेश का एवं शुभाशुभ निमित्त ज्ञान का अवलम्बन लें तथा वहाँ का राजा एवं प्रजा कैसे हैं ? क्षेत्र कैसा है ? स्वयं का सामर्थ्य कैसा है ? वैयावृत्य करने वाले उत्साही हैं या उदासीन हैं ? तथा भावी क्षपक क्षुधादि परीषहों को जीतने में समर्थ है या नहीं, सुखिया स्वभावी है या भेदज्ञान-पूर्वक नाना प्रकार के तपश्चरणों द्वारा शरीर के सुख का त्यागी है ? इत्यादि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का निरीक्षण करने के बाद सर्व संघ से पूछ कर तथा सर्व संघ की सम्मतिपूर्वक क्षपक को ग्रहण करे।

आपृच्छा :–

यद्यपि आचार्य संघाधिपति हैं, सर्व संघ पर उनका प्रभुत्व रहता है; कोई उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता तथापि समाधि जैसे विशाल कार्य की सिद्धि के लिए वे अपने संघस्थ परिचारक साधुवर्ग की सम्मति लेने हेतु पूछते हैं कि "हे साधुजनों ! यह क्षपक रत्नत्रय में सहायता लेने के लिए आया है। अपना अतिथि है। पात्र का लाभ बड़े भाग्य से होता है। तीर्थंकर नामकर्म की कारणभूत वैयावृत्यकरण भावना द्वारा परोपकार करने की भी जिनाज्ञा है, अतः आत्महितेच्छु इस क्षपक के अनुग्रह में आपकी क्या इच्छा है" ?

इसके उत्तर में यदि संघस्थ साधु कहें कि हे स्वामिन् ! हम आपके चरण प्रसाद से क्षपक की वैयावृत्य कर जन्म सफल करेंगे, तो आचार्य क्षपक को ग्रहण करें, अन्यथा नहीं।

क्षमा-याचना :–

उस समय भावी क्षपक का कर्तव्य है कि वह शोक, भय, खेद, स्नेह, राग, द्वेष और अप्रीति (अरति) का परित्याग करते हुए सर्व संघ से क्षमायाचना करे और अपने को दुःख देने वालों को अथवा शत्रु आदि को मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक स्वयं क्षमा करे, क्योंकि जो स्वयं दूसरों को क्षमा करते हैं और दूसरों से क्षमा कराते हैं वे ही इस दुर्लंघ्य संसार समुद्र को पार कर पाते हैं। क्षमा माँगने वाले को जो क्षमा नहीं करते वे दीर्घसंसारी होते हैं।

आलोच्य स्थान कैसा हो :–

जहाँ पत्ररहित वृक्ष हों, कँटीले वृक्ष हों, बिजली द्वारा क्षत एवं अग्नि से जले वृक्ष हों, सूखे या कटुक वृक्ष हों, शून्य गृह, रुद्रदेव का स्थान, पत्थरों का ढेर, ईंटों के समूह, सूखे तृण, सूखे पत्र, सूखे काष्ठ एवं भस्म आदि का ढेर हो, अशुचि एवं शमशान स्थान हो, अन्य नीच आदि मनुष्यों का स्थान हो तथा अन्य भी कोई अप्रशस्त स्थान हो वहाँ आचार्य भावी क्षपक की आलोचना ग्रहण न करें।

अरहन्त, सिद्ध परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के समक्ष अथवा इनके मन्दिरों में, पर्वतादिकों पर, समुद्र के समीप, कमल युक्त सरोवरों के समीप, क्षीर वृक्षों एवं पत्र-पुष्प और फलों से युक्त वृक्षों के समीप, उद्यान, वन, बागों में स्थित महल, नागकुमारों एवं यक्ष देवों के स्थानों पर तथा अन्य भी और प्रशस्त एवं सुन्दर स्थानों पर आचार्य क्षपक की अलोचना ग्रहण करें।

दिशाओं का विवेचन :–

जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार क्षपक के कलुषित परिणामों का अभाव होकर शुद्ध परिणामों का उदय हो, इस कारण आचार्य पूर्वाभिमुख विराजें। विदेहक्षेत्रस्थित विद्यमान तीर्थंकरों के ध्यान हेतु अथवा क्षपक के विशुद्ध भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि हेतु आचार्य उत्तराभिमुख बैठ कर आलोचना श्रवण करें। क्षपक के अशुभ परिणामों का अभाव हो इसलिये जिनमन्दिर के सम्मुख बैठकर और क्षपक कर्मवैरियों को जीतने में समर्थ हो सके इसलिये जिनप्रतिमा के सम्मुख बैठकर आचार्य क्षपक की आलोचना ग्रहण करें।

आलोचना के पूर्व क्षपक को आचार्य का उपदेश :–

सम्पूर्ण आलोचना किये बिना समाधि ठीक नहीं होती इसलिये आलोचना करने के पूर्व ही करुणावान् आचार्य क्षपक को शिक्षा देते हैं कि–हे मुने ! आप धैर्य के अवलम्बन पूर्वक सम्पूर्ण सुखिया स्वभाव को छोड़कर परीषहों की सेना को अंगीकार करते हुए समाधि धारण करो। पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करो और क्रोधादि चारों कषायों का उत्तम क्षमा आदि के द्वारा निग्रह करो। हे साधो ! सर्वप्रथम कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करो, तीनों गारव छोड़ो, पश्चात् रागद्वेष रहित होते हुए आलोचना करो, क्योंकि रागद्वेष असत्य वचन का कारण है, जिससे आलोचना की शुद्धता बिगड़ जाती है रागभाव के कारण अपने दोष दृष्टिगत नहीं होते तथा पर के गुण ग्रहण नहीं किए जा सकते, अतः रागद्वेष का त्याग करने के बाद ही आलोचना करनी चाहिये।

व्रतशुद्धि पर साक्षी में ही होती है :–

मेरा रत्नत्रय निरतिचार है, इसलिये मैं गुरु के समक्ष आलोचना क्यों करूँ ?' ऐसा विचार

करना उचित नहीं है, क्योंकि छत्तीस गुणों से विभूषित और प्रायश्चित ग्रन्थों के मर्मज्ञ महान् आचार्य भी अपने रत्नत्रय में लगे हुए अतीचारों का प्रायश्चित स्वयं नहीं करते, पर की साक्षीपूर्वक ही अपने दोषों की शुद्धि करते हैं। हे मुने ! केवल आचार्य ही नहीं, किन्तु सर्व ही तीर्थंकर [१], सामान्य केवली तथा अनन्त संसार को जीतने वाले, परिग्रह से पार उतर गए ऐसे आचार्य, उपाध्याय साधु गणधरादिक जितने हैं उन सबने छद्मस्थ की शुद्धता गुरु के निकट ही दिखाई है; क्योंकि पर की साक्षी बिना अतिचारों की शुद्धता उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार कुशल वैद्य भी स्वयं बीमार होने पर अन्य वैद्य के सहयोग के बिना स्वयं की औषधि से नीरोग नहीं होते। इसलिये हे साधो ! दीक्षाग्रहण के दिन से आज तक अपने रत्नत्रय में जिस देश में, जिस काल में जिन भावों से, जिस प्रकार के दोष लगे हों, उन्हें उसी प्रकार से सावधानीपूर्वक कहकर अपनी आलोचनापूर्वक शुद्धि करो।

जैसे पैर आदि में लगा हुआ काँटा मनुष्य को दुःख देने वाला है और काँटे का निकल जाना सुख का कारण है, वैसे ही व्रतसंयम आदि में लगे हुए दोषों को दूर नहीं करने वाला मायाचारी साधु दोषरूप शल्य के कारण दुःखी होता है और गुरु के समीप आलोचना करके जो उन दोषों का वमन कर देता है वह सुखी होता है इसलिये हे मुने ! आप मिथ्या, माया और निदान इन तीन शल्यों का त्याग करते हुए आलोचना करो।

जो शरीर में प्रवेश किये हुए काँटे के सदृश निरन्तर शरीर व मन के सन्ताप में कारण हो, उसे शल्य कहते हैं। वह शल्य माया, मिथ्या और निदान के भेद से तीन प्रकार की होती है। दूसरों को वञ्चना करने का नाम माया विपरीताभिनिवेश का नाम मिथ्या और संसार के भोगों की इच्छा का नाम निदान शल्य है। ये तीनों शल्य संसार निमित्तक हैं। वैसे व्रती निःशल्य ही होता है और आप व्रती (साधु) हैं फिर भी पूर्वसंस्कारवश इन शल्यों का पुनर्जन्म हो सकता है, अतः चित्त की विशेष सावधानीपूर्वक ही आलोचना करनी चाहिये।

रागद्वेष से पीड़ित जो मूढ़ मुनि शल्यसहित मरण करते हैं, वे दुःख रूपी शल्यों से भरे हुए इस संसार में ही परिभ्रमण करते हैं तथा जो दीक्षाग्रहण के समय से ही इन तीनों प्रकार की शल्यों को काटकर मरण करते हैं, वे अन्त में आराधनाओं को प्राप्त होते हैं।

गारव

हे धीर ! आलोचना के पूर्व इन तीन शल्यों की भाँति तीन गारव भी त्याज्य हैं, क्योंकि गारवयुक्त चित्त से की हुई आलोचना भी संसार के दुःखों का छेद नहीं कर सकती। वे गारव हैं—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव या ऋद्धि गारव, रस गारव और सात (सुख) गारव।

शब्द गारव—मेरा शब्दोच्चारण मधुर एवं स्पष्ट है, ये अन्य सभी साधुगण इस प्रकार

---

१. सव्वे वि तिण्णसंगा, तित्थयरा केवली अणंतजिणा।
छदुमत्थस्स विसोधिं, दीसंति सदा गुरुसयासे।। ३३।। — भगवती आराधना

स्पष्ट और मधुर उच्चारण करना नहीं जानते। इस प्रकार शब्द-उच्चारण का गर्व होना शब्दगारव है।

ऋद्धि गारव—शिष्य आदि सामग्री मेरे पास बहुत है, अन्य मुनियों के पास नहीं है, अथवा शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका एवं फलक आदिकों से अपने आपको बड़ा (अधिक) मानना अथवा अपने परिवार वर्ग की प्रतिष्ठा आदि देखकर प्रसन्नता होना ऋद्धि गारव है। **सात गारव**—मैं मुनि होकर भी इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के सदृश सुख भोगता हूँ, इन बेचारे अन्य साधुओं और तपस्वियों को ऐसे सुख कहाँ ? अथवा भोजन पान आदि से उत्पन्न सुख में तल्लीनता होना; अथवा, उत्तम भोगोपभोग की सामग्री द्वारा जैसा सुख मैं भोग रहा हूँ, वैसा देवों को भी दुर्लभ है, ऐसी भावना करना; अथवा, लोगों से ऐसा कहना कि आप लोगों को इस प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त होना शक्य नहीं है, आदि सात गारव हैं। **रस गारव**—मोदक, पेटक आदि अनेक प्रकार की मिष्ट एवं पुष्टिकारक भोजन सामग्री प्राप्त हो जाने पर गर्व करना रस गारव है।

ये तीनों गारव दुःख के मूल हैं, अतः हे श्रमण ! तीन गारव, तीन शल्य और परिग्रह की मूर्च्छा रहित होते हुए आलोचना करनी चाहिये।

यदि आप निःशल्य मरण द्वारा समीचीन सुख को प्राप्त करना चाहते हो तो निरवशेष दोषों की विस्मरण, उद्वेग और मूढ़ता रहित शीघ्र सत्यार्थ आलोचना करो।

जिस प्रकार शिशु सरल अन्तःकरण से कार्य-अकार्य अथवा योग्य-अयोग्य सभी कुछ पिता से कह देता है, उसी प्रकार भय, मान, कपट और असत्य का परित्याग करके योग्य-अयोग्य सभी दोषों की आलोचना गुरु के समक्ष कर लेनी चाहिये।

भो मुने! सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र सम्बन्धी शुद्ध आलोचना करके, माया शल्य से रहित होकर भावों की शुद्धि के लिए पहिले गुरु द्वारा दिये हुए प्रायश्चित को सहर्ष स्वीकार करो, पश्चात् सूत्रोक्त क्रम से सल्लेखना करो।

इस प्रकार परमोपकारी गुरु द्वारा जिसने (उपर्युक्त) शिक्षा प्राप्त की है, समाधिमरण करने का जिसका निश्चय है, हर्षातिरेक के कारण जिसका सर्वांग रोमाञ्चित हो रहा है जो एकत्व भावना का चिन्तन कर रहा है, अपने समस्त दोषों का स्मरण कर रहा है, सरल भाव को प्राप्त हुआ है, लेश्या से उज्जवल परिणाम वाला है, विशुद्ध भावों का धारक है और पुनः-पुनः अपने दोषों का स्मरण कर रहा है ऐसा क्षपक, दोष रूपी शल्य को निकालने के लिये पूर्वाह्ण अथवा अपराह्ण काल में, सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ वार और शुभ लग्न आदि में प्रशस्त और एकान्त स्थान में जाकर पिच्छिका सहित हस्ताञ्जलि मस्तक पर रखकर कृतिकर्मपूर्वक गुरु की वन्दना करने के बाद आलोचना के निम्नलिखित दस दोषों का परित्याग करते हुए आलोचना करे—

आलोचना के दस दोष :–

आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलयं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी।। ६८।।

भग० आ० पृ० २५७

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दस दोष हैं।

१. आकम्पित दोष :–

गुरु के सम्मुख दोष प्रगट करने के पूर्व ऐसा भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें, अथवा अपनी दयनीय मुद्रा बना कर दोषों को कहना जिससे गुरु के हृदय में अपने प्रति दया का भाव उत्पन्न हो जावे, जिससे वे कठोर दण्ड न देवें। अथवा गुरु के आहार-पान की सुन्दर व्यवस्था बनवाकर या उपकरण आदि देकर या अतिविनम्रतापूर्वक कृतिकर्म अर्थात् वन्दना आदि के द्वारा अपने प्रति आचार्य के मन में अनुकम्पा उत्पन्न कराकर आलोचना करना; अथवा मन में ऐसा चिन्तन करना कि यदि गुरु हमारे ऊपर अनुग्रह करेंगे तो मैं सम्पूर्ण आलोचना करूँगा अन्यथा नहीं; इन सबको आकम्पित दोष कहते हैं।

हानि—जैसे कोई जीवित रहने की इच्छा से विष का पानक बनाकर ग्रहण करे तो वह अज्ञानी तत्काल मरण को प्राप्त होगा। वैसे ही मायाचार आदि दोषों को दूर करने के लिये भी जो कपटपूर्वक आलोचना करेगा वह अधिकाधिक दोषों से ही लिप्त होगा शुद्ध नहीं। अथवा जैसे रूप, रस, गन्ध और वर्ण आदि से अतिमनोज्ञ किंपाकफल परिपाक काल में मृत्यु का ही कारण है, वैसे ही बाह्य में गुरु आदि को प्रशस्त दिखलाई देने वाली मायाचारयुक्त आलोचना महान् कर्मबन्ध द्वारा संसार-परिभ्रमण का ही कारण हैं। अथवा जैसे क्रिमि (किरमिच) लालवर्ण रंग से युक्त कम्बल या लाख रंग से युक्त रेशम आदि का वस्त्र जलादि से बहुत बार धोए जाने पर भी उज्जवल (श्वेत) नहीं होता, उसी प्रकार आकम्पित दोष से की हुई आलोचना शल्य को दूर कर रत्नत्रय की शुद्धता नहीं करती।

२. अनुमानित दोष :–

दूसरों के द्वारा अनुमानित दोषों को निवेदित करना अन्य को नहीं, अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रा में हैं या रोष में, इसका अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्रा के समय आलोचना करना। अथवा—गुरु को इस प्रकार की विनय द्वारा अपनी असमर्थता का अनुमान कराना कि "हे भगवन् ! इस समय धैर्यवान् पुरुषों के द्वारा आचरण किया हुआ उत्कृष्ट तप जो करते हैं, वे अति धर्मात्मा हैं, जगत् में धन्य हैं और महिमावान् हैं, मैं तो हीन बल वाला हूँ अतः अनशन तप करने में असमर्थ हूँ। मेरा सुखिया स्वभाव, क्षीण बल, शरीर की दुर्बलता

और रोगीपना यह सब आप जानते हैं, इसी कारण मैं उत्कृष्ट तप करने में समर्थ नहीं हूँ, अतः है भगवन् ! आप मुझ पर अनुग्रह करेंगे तो मैं सर्व आलोचना करूँगा। आपकी कृपा रूपी लक्ष्मी से जैसे मेरा निस्तार होगा, उसी प्रकार से मैं अपनी शुद्धता करना चाहता हूँ।" इस प्रकार अपनी शक्ति आदि का अनुमान कराकर आलोचना करना अनुमानित दोष है।

हानि :—जैसे स्वास्थ्य का अभिलाषी कोई रोगी मनुष्य परिपाक में अति कटुक फल देने वाले अपथ्य आहार को गुणकारी मानकर खाता है, उसी प्रकार आत्मशुद्धता का अभिलाषी मायाचारी साधु अनुमानित दोषयुक्त आलोचना से अपने रत्नत्रय आदि की शुद्धि चाहता है, किन्तु वह कर्मों से बँधता ही है, छूटता नहीं।

3. दृष्ट दोष :—

जो दोष दूसरों की दृष्टि में आ चुके हैं, उनकी आलोचना करना तथा जो किसी ने नहीं देखे उन्हें न करना, गुप्त ही रखना, दृष्ट नाम का दोष है।

हानि :—जैसे—जो बालू रेत के टीबे में गड्ढा खोदता है, वह जैसे-जैसे गड्ढे से बालू निकालता जाता है, वैसे-वैसे चारों ओर की बालू से गड्ढा भरता जाता है। इसी प्रकार अन्य के द्वारा दृष्ट दोषों की आलोचना करता हुआ भी मायाचारी साधु माया शल्य के कारण कर्मों से लिप्त होता जाता है।

4. बादर दोष :—

स्थूल दोषों की तो आलोचना करना किन्तु सूक्ष्म दोषों को छिपा लेना। साथ में यह भावना रखना कि "जब स्थूल दोष नहीं छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपायेगा। गुरु ऐसा समझते हुए मेरी मायाचारी न जान सकेंगे" अथवा व्रतों को नष्ट करने वाले स्थूल दोषों की आलोचना करना और सूक्ष्म दोषों को छिपाना यह बादर नाम का दोष है।

हानि :—जैसे काँसे की झारी अभ्यन्तर में मलिन और बाह्य रूप में उज्जवल होती है, वैसे ही जिनेंद्र—आज्ञा से पराङ्मुख होता हुआ जो मायावी साधु सूक्ष्म दोष छिपाने से अभ्यन्तर में मलिन है और स्थूल दोषों की आलोचना द्वारा आचार्य को अपने व्रतों की उज्ज्वलता दिखाता है, वह शल्यसहित आलोचना करने के कारण अपनी समाधि का निस्तरण सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता।

5. सूक्ष्म दोष :—

सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना तथा स्थूल दोष छिपा लेना। साथ ही यह भावना रखना कि "गुरु सोचेंगे कि जब इतने सूक्ष्म दोष नहीं छिपाता तब स्थूल दोष क्या छिपायेगा। अथवा मार्ग में अधिक विहार करने से चित्त में उत्पन्न हो जाने वाली व्याकुलता के कारण

ईर्यापथशोधन में असावधानी हुई हो; स्थान, आसन, शयन में, करवट आदि बदलने में तथा वस्तु के रखने उठाने में मयूरपिच्छिका से मार्जन करने में सावधानी नहीं रखी हो, जल से आर्द्र शरीर आदि का स्पर्श कर लिया हो, सचित्त धूलि पर शयन, आसन आदि किया हो तथा बाल एवं गर्भिणी स्त्री से आहार लिया हो इत्यादि प्रमाद से उत्पन्न होने वाले स्वल्प दोषों की आलोचना करे और यह सोचे कि इससे 'हमारी महिमा होगी' कि देखो, कितने छोटे-छोटे दोषों की भी आलोचना करता है। साथ ही सम्यक्त्व और व्रतों में लगे हुए महान् दोषों की अधिक प्रायश्चित्त के भय से या अभिमान से तथा अपना महत्त्व घट जाने के भय से मायाचारपूर्वक आलोचना करना सूक्ष्म नाम का दोष है।

हानि :—जैसे—लोहे अथवा ताँबे के कंकण एवं कड़े आदि पर स्वर्ण का पत्र लगाकर अथवा स्वर्णपत्र के भीतर लाख भरकर बनाया हुआ जेवर उत्तम मूल्य अर्जित नहीं कर पाता। उसी प्रकार स्थूल दोषों को छिपा कर सूक्ष्म दोषों की आलोचना करने वाले का परमार्थ नियम से बिगड़ता है।

छन्न दोष :—

आचार्य के आगे अपने अपराध को स्वयं प्रगट नहीं करना। अथवा—किसी अन्य साधु के द्वारा व्रतादिक में लगे हुए दोषों को देखकर अपने दोषों की शुद्धि के लिये गुरु से इस प्रकार पूछना कि हे स्वामिन् ! यदि किसी साधु के मूलगुणों में तथा उत्तरगुणों में दोष लग जाये तो उसकी शुद्धता कैसे हो ? अहिंसा एवं सत्य आदि महाव्रतों में अतिचार लग जाने पर उसकी शुद्धता कैसे होगी ? तथा उसको आप कौनसा प्रायश्चित देकर शुद्ध करेंगे ? इस प्रकार और भी अनेक दोषों का प्रायश्चित पूछते-पूछते बीच-बीच में अपने भी दोष पूछ लेना और प्रायश्चित्त ले लेना प्रच्छन्न नाम का दोष है।

हानि :—जो अन्य पुरुष के भोजन करने से किसी अन्य पुरुष की क्षुधाशान्ति होती हो अथवा तप, संयम तो कोई अन्य करे और उसके फलस्वरूप किसी अन्य की शुभ गति हो जाय तो पर के व्यपदेश से की हुई आलोचना भी अन्य को शुद्ध कर देगी, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं, अतः जो किसी दूसरे के बहाने अपने दोषों की शुद्धता चाहते हैं अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोष स्पष्ट रूप से न कहते हुए भी अपनी शुद्धि करना चाहते हैं, वे मानो मृगतृष्णा से जल और चन्द्रमा के परिवेश से भोजन प्राप्ति की इच्छा करते हैं। जिस प्रकार कभी मृगतृष्णा से जल और चन्द्र-परिवेश से भोजन की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार मायाचारपूर्वक की हुई आलोचना से समाधिमरण नहीं हो सकता।

७. शब्दाकुलित दोष :—

संघ आदि के द्वारा किये हुए कोलाहल के समय दोष प्रगट करना अथवा पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक आदि प्रतिक्रमण का पाठ जिस समय हो रहा हो, उसी कोलाहल में

अपने दोषों को इस प्रकार कहना कि जिससे गुरु भली प्रकार से श्रवण न कर सकें; इसे शब्दाकुलित दोष कहते हैं।

हानि :—जैसे अरहट के घड़े एक ओर भरते हैं और दूसरी ओर खाली होते जाते हैं तथा मथानी में लगी हुई रई की डोरी एक ओर खुलती जाती है और दूसरी ओर बँधती जाती है तथा फूटा घड़ा एक तरफ जल से भरते जाओ, उसमें से दूसरी ओर से जल निकलता जाता है; वैसे ही एक ओर आलोचना करते हैं और दूसरी ओर मायाचार के द्वारा कर्मों का बन्ध करते जाते हैं, तब संसार-परिभ्रमण का अन्त कैसे होगा ? नहीं ही होगा।

८. बहुजन दोष :—

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के बाद संघ के समस्त साधु जब अपने-अपने दोष प्रगट कर रहे हों, उसी कोलाहल में बहुजनों के साथ अपने दोष प्रगट करना अथवा किसी मुनि ने आचार्य के समीप मन-वचन-काय से समस्त आलोचना की, तदनन्तर रत्नत्रय के धारी, श्रुतके पारगामी और प्रायश्चित आदि देने में अति प्रवीण आचार्य ने आगमानुकूल यथायोग्य प्रायश्चित्त किया, किन्तु गुरु पर श्रद्धान करके अन्य अनेक गुरुओं से पूछना कि इस अपराध का क्या प्रायश्चित्त है ? यह आलोचना का बहुजन नामका आठवाँ दोष है।

हानि :—जैसे शरीर में चुभा हुआ सरल बाण भी अति वेदना देने से सन्तापकारी है, उसी प्रकार बहुत जनों से अपने दोषों का प्रायश्चित्त पूछना भी परिणामों को दूषित करता है, अतः कर्मबन्ध का ही कारण है।

९. अव्यक्त दोष :—

अव्यक्त रूप से अपराध प्रगट कर प्रायश्चित्त लेना, अथवा आगम ज्ञान से रहित, चारित्र में बाल और अज्ञानी गुरु के समक्ष अपने व्रतों में लगे हुए समस्त दोष कहकर ऐसा मानना कि "मैंने अपने सर्वदोषों की आलोचना कर ली है"; वह अव्यक्त नाम का दोष है।

हानि :—जिस प्रकार कपट का स्वर्ण या धन और दुर्जन की मित्रता परिपाककाल में नियम से दुःखदायी होते हैं, उसी प्रकार अव्यक्त दोष से युक्त आलोचना भी कर्मबन्ध का ही कारण है, समाधि का नहीं।

१०. तत्सेवी दोष :—

जिन अपराधों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लिया है, उन्हीं अपराधों को पुनः-पुनः करना अथवा—अपने सदृश अपराध करने वाले पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियों के समक्ष सर्व दोषों की आलोचना करते समय मन में यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं ये दोष करते हैं तब दूसरों को क्या प्रायश्चित्त देंगे ? अथवा यह विचार करना कि ये स्वयं दोषी हैं

तथा मेरे शरीर की सुकुमारता को और मेरे सर्व अपराधों को जानते हैं, अतः महान् प्रायश्चित्त न देकर अल्प प्रायश्चित्त देंगे। यह आलोचना का तत्सेवी नाम का दसवाँ दोष है।

हानि :—जैसे कोई अज्ञानी रुधिर से भीगे वस्त्र की शुद्धता रुधिर से ही करना चाहता है, सो त्रिकाल में भी नहीं हो सकती; शुद्धता जब भी होगी, निर्मल जल से ही होगी। इसी प्रकार कोई साधु अपने शल्य की शुद्धता दोषी गुरु से चाहता है, सो कदापि नहीं होगी; प्रत्युत् मायाचार के दोष से, तथा सूत्र की आज्ञा उल्लङ्घन करने से वह महादोषों से लिप्त ही होगा। इसलिए वीतरागी गुरु की शिक्षा ग्रहण करके निर्दोष आचार्य के समीप सरल चित्त से अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार प्रवचन छिपाने वालों का, भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा उल्लङ्घन करने वालों का और दुष्कर पाप करने वालों का निर्वाण दूर है, उसी प्रकार सदोष मुनि के समीप आलोचना करने वालों का शल्योद्धरण (शुद्धि) भी अति दूर है।

आलोचना के ये दसों दोष आत्मा को मलिन करने वाले हैं, अतः मुमुक्षुओं को सतर्कतापूर्वक इनका त्याग करना चाहिए। जिन्हें प्रायश्चित्त से भय लगता है, या अपने दोष कहने में जिनको लज्जा आती है, या मायाचार से जिनका हृदय मलिन है, तथा जो असत्यवादी हैं और अभिमानी हैं, उनके द्रव्य और भाव दोनों की ही शुद्धता नहीं होती तथा भावशुद्धि के अभाव में धर्मानुराग और रत्नत्रय में उज्ज्वलता कहाँ हो सकती है ? इसलिये भय, माया, असत्यता, अभिमान और लज्जा आदि दोषों का त्याग करते हुए विधिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

सम्पूर्ण जीवन में किये हुए तप, व्रत और संयम आदि का अन्तिम फल सल्लेखना है और सल्लेखना की सफलता निर्दोष आलोचना पर निर्भर है, अतः संसार भीरु आत्माओं को मायाचारपूर्वक आलोचना नहीं करनी चाहिये। माया कषाय के जितने भेद-प्रभेद हैं, वे सब आलोचना के दोष हैं, अतः प्रयत्नपूर्वक सर्व दोषों का परिहार करते हुए निर्दोष आलोचना द्वारा उसी प्रकार सुखी हो जाना चाहिये जिस प्रकार बहुत भार (बोझा) वहन करने वाला पुरुष भार उतार देने के बाद अपने आपको हलका—भाररहित और सुखी अनुभव करता है।

जो बहुत शास्त्रों के पारगामी हैं किन्तु अपने शील, संयम, व्रत और मूलगुणादिक में निर्दोष आलोचना के द्वारा भावशुद्धि नहीं करते, वे मोही एवं मूढ़ जीव इस संसार में अनेक दुःखसमूहों के द्वारा तिरस्कार को प्राप्त होते हैं। अतः हे साधो ! करुणावान् गुरु बार-बार यही समझाते हैं कि हृदय रूपी करण्ड (पिटारे) में शल्य (दोष) रूपी हलाहल को छिपाकर सल्लेखना धारण मत करो, क्योंकि जब आप आत्मविशुद्धि ही नहीं करना चाहते तब मात्र शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? हे मुने ! समाधि धारण करने के शुभ अवसर की प्राप्ति अति दुर्लभ है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है, अतः समय मत चूको और चित्त की सरलतापूर्वक

अन्तःकरण की माया शल्य को निकाल कर अपने रत्नत्रय एवं मूलगुण, उत्तरगुणों की शुद्धता के लिये निर्दोष आलोचना करो।

आलोचना :–

गुरु की हितकारी शिक्षा को ग्रहण करता हुआ क्षपक मन, वचन और काय की सरलतापूर्वक तथा वचनसम्बन्धी दोषों को छोड़ता हुआ अति विनयपूर्वक एवं स्पष्ट भाषा में पाँच स्थावरकाय एवं त्रसकाय के जीवों की विराधना सम्बन्धी दोषों को, आहार-सम्बन्धी दोषों को, अयोग्य उपकरण आदि ग्रहण सम्बन्धी, सदोष वसतिका सम्बन्धी, गृहस्थसम्बन्धी आसन, फलक, सिंहासन आदि का स्पर्श एवं उपयोग कर लेने से उत्पन्न होने वाले दोषों को विस्तार और निर्भयतापूर्वक कहे तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पाँच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों व उत्तर गुणों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना करके अपने हृदय को निर्मल बना ले।

गुरु का कर्तव्य :–

स्थिरचित्त से क्षपक की आलोचना सुनकर, चतुर वैद्य एवं राजा आदि के सदृश उन दोषों के प्रति तीन बार पृच्छा करके आलोचना की सरलता एवं वक्रता का निर्णय करे। यदि आलोचना यथावत् और सम्यक् समझे तो आगमानुसार प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे और यदि आलोचना सम्यक् न हो तो आचार्य उसे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध न करें और न उसे समाधि के लिये ग्रहण करें।

वसतिका :–

प्रायश्चित्त देकर जिसे शुद्ध किया है, ऐसे क्षपक के लिये प्रशस्त स्थान में छयालीस दोषों से रहित निर्दोष और प्रशस्त वसतिका का अन्वेषण करे।

जिस स्थान पर इन्द्रियां विषयों की ओर न दौड़ें, मन की एकाग्रता नष्ट न हो, ध्यान निर्विघ्नतया हो सके; जो जीव राशि से रहित हो, संस्कार रहित हो, जिसका द्वार ढका हुआ हो, जिसमें प्रशस्त प्रकाश हो, जिसमें बाहर-भीतर आने-जाने में कठिनाई न हो, जिसके किवाड़ और भित्तियाँ मजबूत हों, गाँव के इतने समीप हो कि जहाँ गाँव से बाल, वृद्ध और चतुर्विधगण आ-जा सकें तथा जो क्षपक के मल-त्याग आदि के साधनों से युक्त हो ऐसी दो या तीन वसतिकाएँ खोजनी चाहिए। एक में क्षपक की, दूसरी में अन्य परिचारक मुनिजनों की और तीसरी वसतिका में धर्मोपदेश की व्यवस्था करनी चाहिए।

यदि उपर्युक्त प्रकार की वसतिका नहीं मिले तो "खवयस्सोच्छागारो धम्मसवड-मंडवादी य"।। ६३९।। मूला० अर्थात् बाँस एवं पत्तों आदि की वसतिका और धर्मश्रवण-मण्डप आदि

तैयार करवाना चाहिए। संयम साधक और संयमवर्धक वसतिकाएँ ही ग्रहण करने के योग्य हैं शेष सब त्याज्य हैं।

इच्छाकार :–

[१] चारों आराधनाओं की प्राप्ति की इच्छा से वसतिका में प्रवेश करने के पूर्व कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा क्षपक जिस वसतिका में रहना चाहता है उस वसतिका के अधिष्ठान देवता से "यहाँ संघ बैठना चाहता है" ऐसा इच्छाकार करे अर्थात् वसतिका के अधिष्ठान देव से पूछ कर उसमें क्षपक का प्रवेश कराना चाहिए।

शय्या अथवा संस्तर :–

[२] पृथिवी, शिला फलक (काष्ठ) और तृण इन चार से संस्तर तैयार किया जाता है।

(अ) [३] भूमि संस्तर–जो भूमि अधिक मृदु न हो (मृदु होगी तो दब कर जीव मरेंगे), छिद्र एवं बिल रहित हो, ऊँची-नीची न हो, गीली न हो, कृमि-कीटादि से रहित हो, देह प्रमाण, प्रकाश युक्त, गुप्त और सुरक्षित हो एवं जिसका स्पर्श सुखद हो ऐसी भूमि पर क्षपक के लिए संस्तर तैयार करना चाहिए।

(ब) [४] शिलामय संस्तर–अग्निज्वाला से दग्ध या टांकी से उकेरा गया अथवा घिसा हुआ हो। टूटा-फूटा और अस्थिर न हो, जीवों से रहित, समतल और प्रकाश युक्त हो।

(स) [५] फलक (काष्ठ) का संस्तर–चारों ओर भूमि से संलग्न, जोड़ रहित, हलका, सरल, अखण्ड, स्निग्ध, मृदु और अफूट ऐसा फलकसंस्तर होना चाहिए।

(द) [६] तृण का संस्तर–जो गाँठ रहित तृण से निर्मित हो, छिद्र रहित और बिना टूटे तृण से बना हुआ हो, जिस पर सोने एवं बैठने से बदन में खुजली न हो, जो मृदु स्पर्श वाला एवं जीव-जन्तु रहित हो और आसानी से शोधने योग्य हो ऐसा तृण का संस्तर होना चाहिए।

---

१. आराधण-पत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो।
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए। १९९४।। –भगवती आराधना
२. भगवती० गा० ६४०।
३. भगवती० गा० ६४१-६४२।
४. भगवती० गा० ६४१-६४२।
५. भगवती० आराधना ६४३।
६. भगवती० आराधना ६४४।

संस्तर की दिशा :–

इन चारों संस्तरों में से सुविधानुसार किसी एक संस्तर की शास्त्रोक्त विधि से रचना करनी चाहिए। संस्तर[1] के मस्तक का भाग पूर्व अथवा उत्तर दिशा में होना चाहिए। अर्थात् क्षपक का मुख पश्चिम या दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिए।

शय्या-आरोहण :–

[2]क्षपक वर्षाऋतु में अर्थात् आषाढ़-श्रावण आदि में नाना प्रकार के तप करे और जिसमें अनशनादि करने पर भी महान् कष्ट का अनुभव नहीं आता, ऐसे हेमन्त काल (कार्तिक-मगशिर) में संस्तर ग्रहण करे। अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से संस्तर का निर्माण हो जाने के बाद दसों दिशाओं की शुद्धि, बृहद्शान्ति धारा एवं पुण्याहवाचन आदि प्रारम्भिक आवश्यक क्रियाएँ हो जाने के बाद क्षपक मङ्गलभूत पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके, आचार्य की विनय करके, सर्व संघ से बार-बार क्षमायाचना करके और स्वयं सबको क्षमा करके महामन्त्र का उच्चारण करते हुए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक शय्या आरोहण करे अर्थात् संस्तर ग्रहण करे।

परिचारकों की संख्या का प्रमाण :–

उत्कृष्टतः अड़तालीस मुनिराज परिचारक होने चाहिए। काल परिवर्तन के साथ समयानुसार चार-चार परिचारक कम करते हुए मध्यमतः चवालीस से चार तक तथा अति निःकृष्टकाल में जघन्यतः दो परिचारक तो होने ही चाहिए। "एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते" (भग० आ० ६७३)

अर्थात् जिन सूत्रों में एक परिचारक का विधान किसी भी काल में नहीं कहा गया है।

परिचारकों में कार्य विभाग :–

जिनके मोहनीय और अन्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम है तथा जो ग्लानि विजयी हैं ऐसे चार मुनिराज उद्गमादि दोष रहित, शुद्ध एवं अनुकूल अर्थात् क्षपक के लिए वात, पित्त, कफ और श्लेष्म शमक आहार लाते हैं।

चार मुनिराज क्षपक के लिए पीने के पदार्थ लाते हैं। चार मुनिराज आहार–पान का रक्षण करते हैं। चार मुनिराज क्षपक के मल-मूत्र को साफ करते हैं और सूर्यास्त एवं सूर्योदय के समय वसतिका, उपकरण और संस्तर आदि का शोधन करते हैं। चार मुनि वसतिका के

---

१. भगवती० आराधना ६४०।

२. भगवती० आराधना ६३१।

द्वार का और चार मुनि समवशरण के द्वार का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करते हैं। चार मुनि उपदेशमण्डप का रक्षण करते हैं। चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण करते हैं। चार मुनि निवास स्थान के बाह्य क्षेत्र की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते हैं।

चार मुनि श्रोताओं को उपदेश देते हैं। चार मुनि वाद-विवाद करने वालों के साथ वाद-विवाद करके सिद्धान्त का रक्षण करते हैं और चार मुनिराज धर्मकथा करने वालों का रक्षण करते हैं अर्थात् बराबर व्यवस्था बनाये रखने हेतु सभा में इधर-उधर घूमते रहते हैं।

शंका—अयाचकवृत्तिधारी दिगम्बर साधु क्षपक के लिए आहार-पान माँगकर कैसे ला सकते हैं और साधु साधु को आहार कैसे दे सकते हैं ? (इस शंका का प० पू० स्व० द्वितीय पट्टाधीशाचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज जी के मुखारबिन्द से सुना हुआ समाधान प्रस्तुत कर रही हूँ)

समाधान—चारों मुनि एक साथ आहार लेने नहीं जाते एक दिन में एक-एक मुनि ही आहार और पेय वस्तुएँ लेने जावेंगे। उस दिन उनका स्वयं का उपवास होगा, किन्तु वे आहार की मुद्रा में ही जाकर पड़गाहन आदि पूर्ण नवधा विधि यथावत् करावेंगे और जब श्रावक थाल परोस कर सामने रखेगा तब मौन छोड़कर वे मुनिराज उस थाल में से योग्य आहार और पेय क्षपक के लिए ले चलने हेतू कहेंगे। इस प्रकार याचना किये बिना आहार-जल आदि लाकर जो मुनिराज आहार एवं पेय पदार्थ की रक्षा में नियुक्त किये गये हैं, उनके संरक्षण में रखवा देंगे। आहार जल का संरक्षण करने वाले मुनिराज क्षपक के लिए समय देखकर उन्हीं श्रावकों से आहार दिलवायेंगे, स्वयं नहीं देंगे।

अथवा "आहार जल लावेंगे" यह उपलक्षण है। अर्थात् श्रावकों को प्रेरित करके वसतिका के समीप ही आहारादि की व्यवस्था करा सकते हैं।

शंका—मुनि यदि इस प्रकार व्यवस्था करावेंगे तो उन्हें उद्दिष्ट का दोष लगेगा ?

समाधान—नहीं। श्री वीरनन्दि आचार्य आचारसार में कहते हैं कि—

मत्स्यार्थं वा कृते मत्स्या माद्यन्ति मदनोदके।
नो दर्दुरास्तथा भिक्षु-र्दोष्युद्दिष्टान्न सेवकः।। 23।। अ० ८

जिस प्रकार मछलियों के लिए बनाये हुए मद वा नशा उत्पन्न करने वाले जल से मछलियों को ही नशा उत्पन्न होता है मेंढकों को नहीं। उसी प्रकार उद्दिष्ट अन्न के ग्रहण करने से उसी मुनि को दोष लगता है (जिसका उस आहार में स्वयं के लिए मन, वचन, काय और कृत कारित एवं अनुमोदना का योग होता है) अन्य मुनियों को नहीं। यदि क्षपक स्वयं कहे तो वह अवश्य ही दोष है।

क्षपक का कर्तव्य :–

इस प्रकार उत्कृष्टतः ४८ परिचारक मुनि संसार-समुद्र से प्रयाण करने वाले क्षपक को रत्नत्रयपूर्वक समाधि कार्य में लगाए रहते हैं। किन्तु [1]क्षपक को प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त लेना उपदेश सुनना, तीन प्रकार के आहार आदि का त्याग एवं प्रश्न आदि करना इत्यादि कार्य निर्यापकाचार्य से ही करने चाहिए, क्योंकि वे ही उसे प्रमाण हैं। यदि निर्यापकाचार्य उपदेशादि देने में अशक्त हों तो उनकी आज्ञानुसार क्षपक अन्य आचार्य के पास प्रतिक्रमणादि कार्य कर सकता है।

आहार प्रकाशन :–

अनेक प्रकार के तप करते हुए जब क्षपक की आयु अल्प रह जाय तब क्षपक गुरु से तीन प्रकार के आहार के त्याग के लिए विनय करता है। उस समय आचार्य को [2]बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट रसयुक्त पदार्थ (पृथक्-पृथक् परोस कर) क्षपक के समक्ष लाकर दिखाने चाहिए। कोई क्षपक आहार देखने मात्र से विरक्त हो जाते हैं; कोई थोड़ा खाकर और कोई क्षपक अच्छी तरह सम्पूर्ण आहार करके तृप्त होते हैं, पश्चात् संवेग को प्राप्त होते हैं। आहार करने के बाद भी यदि क्षपक बार-बार आहार की वांछा करे तो आचार्य आहाराभिलाषा नष्ट करने वाला उपदेश देकर आहार से विरक्त करें।

तीन प्रकार के आहार का त्याग :–

क्षपक की अनादिकालीन आहार संज्ञा भोज्य पदार्थ दिखाकर एवं उपदेश देकर नष्ट करनी चाहिए। यदि क्षपक में भोज्य पदार्थों के प्रति लोलुपता दृष्टिगत हो तो क्रमशः एक-एक पदार्थ का त्याग कराना चाहिए। सर्व प्रथम उसे मिष्टाहार का त्याग कराकर सादे-सरल भोजन में स्थिर करना चाहिए पश्चात् क्रमशः भात आदि खाद्य पदार्थों का त्याग कराकर पानकाहार में उद्यत करना चाहिए।

काँजी से भीगे बिल्वपत्रों से पेट सेककर अथवा सैंधे नमक की वर्तिका गुदा द्वार में डाल कर उदर का मल निकालना चाहिए। उदर शोधन क्रिया के अनन्तर क्षपक खाद्य, स्वाद्य और लेह्य इन तीन प्रकार के आहारों का त्याग करे तथा आचार्य को क्षपक के तीन प्रकार के आहार त्याग की घोषणा सर्व संघ में कर देनी चाहिए।

पानकों के प्रकार एवं लक्षण :–

आगम में पानक के छह भेद बतलाये हैं–

१. सिक्थग–जिस गाढ़े माँड में भात के दाने रहते हैं उसे सिक्थग पानक कहते हैं।

१. भगवती० गा० ६८७।
२. भगवती० गा० ६६०।

२. **असिक्थग**—भात के दानों से रहित गाढ़ा माँड असिक्थग पानक है।

३. **लेवड़**—दही, रबड़ी आदि जो पदार्थ हाथ में चिपकते हैं उसे लेवड़ पानक कहते हैं।

४. **अलेवड़**—माँड, मट्ठा (तक्र) आदि जो हाथ में नहीं चिपकते उसे अलेवड़ पानक कहते हैं।

५. **वहल**—काञ्जी, द्राक्षारस और इमली का सार आदि गाढ़े पानक वहल कहलाते हैं।

६. **स्वच्छ**—उष्णजलादि स्वच्छ पानक हैं।

शंका—सिक्थग और असिक्थग पानक जो अन्न से ही बने हुए हैं फिर क्षपक इन्हें कैसे ग्रहण कर सकता है ?

समाधान—क्षपक को खाद्य स्वाद्य और लेह्य इन तीन प्रकार के अर्थात् चबाने और चाटने योग्य आहार का त्याग कराने का विधान है अन्न का नहीं, इसलिए वे सिक्थग पेय ले सकते हैं।

विशेष—निर्यापकाचार्य और क्षपक इन दोनों के लिए यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिन्होंने मात्र पेय पदार्थ रखा है वे भी चावल युक्त माँड, निखालिस माँड, दही एवं रबड़ी आदि पेय ले सकते है

[1] पानक आहार करने वाले क्षपक को उदरमल शोधन के लिए माँड के सदृश गाढ़ी (जाड़ी) रेचक औषधि देना चाहिए।

उस क्षीणशरीरी क्षपक को पथ्य युक्त, परिपाक में गुणकारक और रोग का शमन करने वाला पेय आहार देना चाहिए। कटुक, तीक्ष्ण, चरपरा, खट्टा, कषायला, लवण, खांड एवं मिश्री आदि से मिश्रित, स्वाद रहित, दुर्गन्धित, गन्दा उष्ण, अतिशीत, कफोत्पादक एवं अपवित्र पानक देने योग्य नहीं है।

शंका—समाधिग्रहण के समय ही क्षपक के आहार पान के योग्य पदार्थों की तालिका (सूची) तैयार कर ली जाती है कि अमुक-अमुक पन्द्रह, दस या पाँच आदि वस्तुओं के सिवाय क्षपक के अन्य वस्तुओं का त्याग है, फिर मलशोधक और रोग उपशामक औषधियाँ कैसे दी जा सकती हैं ? क्योंकि न जाने कौनसा रोग उत्पन्न हो जाय और सूची में कौनसी वस्तु लिखी हो ?

समाधान—आगम में चारों प्रकार के आहार का क्रमशः त्याग करने का विधान है,

---

१. भगवती० गाथा ७०२।

सूची बनवाने का नहीं। आचार्यों को यदि सूची (तालिका) बनवाना ही इष्ट होता तो वे वात, पित्त एवं कफ उपशामक तथा उदरमल शोधक पेय औषधि देने की आज्ञा नहीं देते।

आचार्यों का लक्ष्य वस्तुओं के त्याग की अपेक्षा समता परिणामों की रक्षा पर अधिक था। रोग उत्पन्न हो जाने पर यदि योग्य औषधि न दी जाएगी तो संक्लेश परिणामों का होना स्वाभाविक है और उसका एक मात्र फल दुर्गति है अतः तालिका नहीं बनानी चाहिए।

पानकाहार त्याग :–

क्षपक को पानक आहार का सिक्थग, असिक्थग एवं लेवड़ आदि के क्रम से शनैः-शनैः त्याग करते हुए अन्त में मात्र स्वच्छ जल लेना चाहिए। संस्तर पर सोया हुआ क्षपक जब एकदम क्षीण[1] हो जावे तब स्वच्छ जल स्वरूप पानक का भी त्याग कर देना चाहिए।

कुल्ला कराना :–

चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देने के बाद जिह्वाबल, वचन शक्ति और श्रवण शक्ति की सुरक्षा, मुख की निर्मलता तथा धर्मश्रवण की शक्ति की सुरक्षा हेतु तैल[2] एवं कषायले द्रव्यों से बहुत बार कुल्ले कराने चाहिए जिससे जीभ और कानों को शक्ति प्राप्त होती है तथा जीभ के ऊपर का मैल निकल जाने से वह स्वच्छ हो जाती है और बोलने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। दोनों कानों में तथा नासापुटों में तैल आदि डालते रहना चाहिए एवं आवश्यकतानुसार मुख और हाथ-पैरों का भी जल से प्रक्षालन करते रहना चाहिए।

वैयावृत्त्य :–

पूर्व कर्मोदय से संस्तरारूढ़ क्षपक के ध्यान–विघ्नोत्पादक वेदना आदि के उत्पन्न हो जाने पर निर्यापकाचार्य को एवं उनकी आज्ञा से वात्सल्यगुणधारी अन्य मुनिराजों को प्रमादरहित होकर उत्तम वैद्य की सहायता से योग्य प्रासुक द्रव्यों द्वारा उत्पन्न हुए वात, पित्त एवं कफ आदि का शमन करना चाहिए। वस्ति कर्म (गुदामार्ग में नमकादि की बत्ती लगाना) करना, अग्नि से सेक करना, औषधियों का लेप करना, शरीर उष्ण करना, शीतल करना, सर्व अंगों का मर्दन आदि करना, वेदना के उपशमन हेतु नाना प्रकार का धर्मोपदेश देना, संस्तर, वसतिका, आसन, पीछी और कमण्डलु आदि का संशोधन करना, मल-मूत्र उठाना, थूक आदि साफ करना, करवट दिलाना, उठाना-बैठाना एवं सुलाना तथा और भी अन्य प्रकार से क्षपक के परिणाम समता रूपी व्रतों में सावधान रखने चाहिए।

वेदनादि के कारण प्रतिज्ञा आदि भंग कर देने पर भी निर्यापकाचार्य को क्षपक से

---

१. भगवती० आ० गा० १४६२।

२. भगवती० आ० गा० ६८८।

शिक्षारूप, कर्णप्रिय, आनन्ददायक दुःखहारी, हितकारी, अत्यन्त प्रिय एवं मनोहारी स्नेह युक्त वचन बोलने चाहिए।

जोर-जोर से शीघ्रतापूर्वक, कटु एवं कठोर वचन नहीं बोलने चाहिए, उसकी भर्त्सना नहीं करनी चाहिए, न भय दिखाना चाहिए, न उसका अपमान करना चाहिए और न उपेक्षा एवं हँसी करनी चाहिए। अर्थात् किसी भी प्रकार से क्षपक के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए।

जिन मुनियों की श्रद्धा एवं भक्ति समाधिमरण में नहीं है, जो वाग्गुप्ति और ईर्या समिति के पालक नहीं हैं, आगम विरुद्ध भाषण करते हैं, निरन्तर कल-कल करते रहते हैं, क्षपक के दर्शन नहीं करते तथा क्षपक और परिचारक मुनियों की टीका-टिप्पणी तथा निन्दा करते रहते हैं ऐसे मुनियों को वहाँ तक नहीं आने देना चाहिए जहाँ से उनके शब्द क्षपक को सुनाई पड़ सकते हों।

क्षपक को निर्यापकाचार्य का सदुपदेश :–

सर्वप्रथम आचार्य क्षपक के मिथ्यात्व का वमन कराने हेतु शिक्षा देते हैं।

शङ्का–जब मिथ्यात्व का त्याग करने के पश्चात् ही मुनिव्रत धारण किया जाता है, तब यहाँ समाधिकाल में मिथ्यात्व-त्याग के उपदेश की क्या सार्थकता होगी ?

समाधान–आपका कथन सत्य है। मोक्षमार्ग में पग रखने के इच्छुक सर्व प्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग करते हैं, किन्तु "अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः" अर्थात् अनादिकाल से अविद्यामिथ्यात्व आदि के (अभ्यास के) संस्कारों द्वारा मन अवश होता हुआ चंचल बना रहता है। जैसे चिरकाल से बिल में निवास करने वाला सर्प निवारण करने पर भी बिल में ही प्रवेश करता है, रोकने पर भी नहीं रुकता, उसी प्रकार संसारी जीवों के हृदय रूपी बिल में अनादि काल से निवास करने वाला मिथ्यात्व रूपी सर्प बारम्बार रोकने पर भी नहीं रुकता, प्रवेश कर ही जाता है, अतः अव्रती हो या व्रती श्रावक हो या मुनीश्वर हों अथवा क्षपक हो, सभी को मिथ्यात्व के अभाव की और सम्यक्त्व की दृढ़ता की भावना निरन्तर करना चाहिये।

भो आत्मन् ! तीनों लोकों में और तीनों कालों में मिथ्यात्व रूपी महाशत्रु के द्वारा जो दुःख दिया जाता है, वैसा दुःख अग्नि, विष एवं कृष्ण सर्प आदि किसी के द्वारा भी नहीं दिया जाता, क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ तो एक ही भव में दुःख देते हैं, जबकि मिथ्यात्व रूपी शत्रु तो असंख्यात और अनन्त भवों में बारबार दुःख देता है।

भो साधो ! यह जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से अनन्त बार अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, पर्वत से गिरकर, कूप आदि में पड़कर और शस्त्रघात से मरा है। अनन्त बार सिंह आदि दुष्ट पशुओं के द्वारा खाया गया है, दुष्ट मनुष्यों के द्वारा मारा गया है और बन्दीगृह

आदि में सड़ा है, रोगों की तीव्र वेदना से मरा है, भूख-प्यास एवं उष्ण-शीत की वेदना से मरा है। अनन्त बार शरीर के अंगोपांग गल जाने से मरा है, दरिद्रता की पीड़ा से मरा है, अधिक कहाँ तक कहा जाय। पर हे मुने ! सम्पूर्ण दुःखों का मूल एक मिथ्यात्व है, अतः इसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करो।

जिस प्रकार विषबाण से बींधे गए पुरुष का मरण अवश्यम्भावी है और प्रतीकाररहित है, उसी प्रकार मिथ्या शल्य से युक्त साधु का संसार-परिभ्रमण अवश्यम्भावी है। उसे उन दुःखों से बचाने में कोई समर्थ नहीं है।

अहो क्षपकराज ! मिथ्यात्व के सद्भाव में धारण किया हुआ दुर्द्धरचारित्र भी जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाने में समर्थ नहीं है। जैसे गिरी सहित कड़वी तूमड़ी में रखा हुआ दूध कटुक और गिरि रहित तूमड़ी में रखा हुआ दूध मधुर होता है, उसी प्रकार जीव के मिथ्यात्वयुक्त तप, व्रत, संयम एवं चारित्र आदि नाश को प्राप्त होते हैं और मिथ्यात्वरहित वे ही तप आदि सफल होते हैं।

हे मुनिराज ! यह मिथ्यात्व परभव में तो दुःख देता ही है, किन्तु इसका कटुक फल तत्काल भी प्राप्त हो जाता है। जैसे संघश्री मन्त्री मिथ्यात्व के तीव्र उदय से अन्धा होकर दुर्गति में पड़ा।

संघश्री मन्त्री की कथा :–

आन्ध्र देश के कनकपुर नगर में सम्यक्त्वगुण से विभूषित राजा धनदत्त राज्य करते थे। उनका संघश्री नाम का मन्त्री बौद्धधर्मावलम्बी था। एक दिन राजा और मन्त्री दोनों महल की छत पर स्थित थे। वहाँ उन्होंने चारणऋद्धिधारी युगल मुनिराजों को जाते हुए देखा। राजा ने उसी समय उठकर उन्हें नमस्कार किया और वहीं विराजमान होकर धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की। मुनिराजों ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्धगुरुओं के पास जाना छोड़ दिया। किसी एक दिन बौद्धगुरु ने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री गया किन्तु बिना नमस्कार किये ही बैठ गया। जब भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब संघश्री ने श्रावक के व्रत आदि लेने की सम्पूर्ण घटना सुना दी। बौद्धगुरु जैनधर्म के प्रति ईर्ष्या से जल उठा और बोला–मंत्रीवर ! आप ठगाये गये हो, भला आप स्वयं विचार करो कि मनुष्य आकाश में कैसे चल सकता है ? ज्ञात होता है राजा ने कोई षड्यन्त्र रचकर तुम्हें जैनधर्म स्वीकार कराया है। बौद्धगुरु की बात सुनकर अस्थिर बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड़ दिया। एक दिन राजा ने अपने दरबार में जैनधर्म की महत्ता बताई और चारण-ऋद्धिधारी मुनिराजों के चमत्कार सुनाये और उस घटना को सुनाने का अनुरोध मन्त्री से भी किया। मन्त्री बोला–"महाराज ! असम्भव है, न मैंने अपनी आँखों से देखा है और न इस प्रकार की बात सम्भव है"। मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत

विस्मय हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनों नेत्र फूट गये, और वह दुर्गति का पात्र बना। "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ही उसने फल प्राप्त किया।

हे क्षपकराज ! जिस प्रकार सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्वभाव धारण करने से संघश्री मंत्री दुर्गति का पात्र बना, उसी प्रकार यदि तुम भी मिथ्यात्व को धारण करोगे तो दुर्गति के पात्र बनोगे। अतः अपने परिणामों की सँभाल में निरन्तर प्रयत्नशील रहो।

अब आचार्य सम्यक्त्व के उपकारों का दिग्दर्शन कराते हैं :–

हे क्षपक ! तीनों लोकों और तीनों कालों में ऐसा कोई भी सुख नहीं है जो सम्यक्त्वरूपी महाबन्धु के द्वारा उपलब्ध न होता हो।

भो भव्यात्मन् ! सम्यग्दर्शन संसार के समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ है, अतः उसके धारण और रक्षण में प्रमादी मत बनो। निरन्तर ऐसा उद्यम करो जिससे सम्यक्त्व दृढ़ और उज्ज्वल बना रहे क्योंकि ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य रूप आराधना की आधारशिला सम्यग्दर्शन ही है। जैसे नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है, बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ज्ञानादि आराधनाओं में प्रवेश करने का द्वार सम्यक्त्व है। जैसे मुख की शोभा नेत्रों से है, उसी प्रकार ज्ञानादि अनन्तगुणों की शोभा सम्यग्दर्शन से है। वैसे वृक्ष की स्थिति मूल (जड़) से है, वैसे ही आत्मा के गुणों की अवस्थिति सम्यग्दर्शन से है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके, समाधिमरण स्वीकार करने वाले आपको ज्ञानादि शेष आराधनाओं की शुद्धि के लिए सप्त भयों और पच्चीस दोषों का विनाश कर सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करना चाहिये।

भो भव्य ! सम्यग्दर्शन के सामने तीनों लोकों की सम्पदा का भी कोई मूल्य नहीं है। देखो ! राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व के प्रभाव से ३३ सागर की नरकायु काटकर मात्र ८४ हजार वर्ष प्रमाण बना ली और उसी सम्यक्त्व के प्रभाव से वे भविष्यत् काल के प्रथम तीर्थंकर होने वाले हैं, अतः आप अविनाशी सुख की प्राप्ति हेतु सम्यक्त्व रूपी अमूल्य रत्न की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो।

विशेष :–यहाँ राजा श्रेणिक की कथा सुनानी चाहिये, यह कथा सर्वविदित है अतः नहीं लिखी जा रही।

अब आचार्यश्री के द्वारा क्षपक को अर्हदादि-भक्ति का माहात्म्य बताया जा रहा है :–

हे आत्मकल्याण के इच्छुक साधो ! इस समाधि के समय आपके हृदय में जिनेन्द्र भगवान् के प्रति अन्तःकरण से भावशुद्धिपूर्वक विशेष अनुराग होना चाहिये क्योंकि अकेली जिनभक्ति ही सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ है, मुक्ति के लिये परम कारण है, दुर्गतिनिवारण में सक्षम है, सिद्धिपर्यंत सुखों के कारणभूत पुण्य को परिपूर्ण करने वाली है और सम्पूर्ण रूप

से अपायों को दूर कर मनोरथों की पूरक है। अर्हद्भक्ति के सदृश पञ्चपरमेष्ठी, जिनचैत्य (बिम्ब), जिनचैत्यालय, जिनवचन और जिनधर्म में भी आपका अनुराग होना चाहिये, क्योंकि परमेष्ठी के गुणों में अनुराग करने वाला ही आत्मगुणों में अनुराग करेगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

शंङ्का—अनुराग तो बन्ध का कारण है, फिर पंचपरमेष्ठी का अनुराग मोक्ष का कारण कैसे कहा ?

समाधान—वीतराग अर्हन्तादि के प्रति होने वाला अनुराग विषय, कषाय, शरीर एवं धनधान्यादि के प्रति होने वाले अनुराग से अत्यन्त भिन्न है अर्थात् यह अनुराग समस्त परवस्तुओं से रागभाव का अभाव कराकर वीतरागरूप निजभाव में स्थिति करा देने वाला है, अतः जब तक ध्यान, ध्याता और ध्येय की एकता नहीं होती तब तक परमात्मा आदि में अनुराग करना चाहिये। (भग० आ० पृ० ३०३)

जो पुरुष चारों आराधनाओं के अधिनायक पंच परमेष्ठियों में भक्ति नहीं करता, वह उत्कृष्ट संयम धारण करते हुए भी मानो ऊसर भूमि में धान्य बोता है, क्योंकि जैसे ऊसर भूमि में डाला गया बीज नष्ट हो जाता है, वैसे ही भक्ति बिना संयमादि गुण नष्ट हो जाते हैं।

जो पुरुष आराधनाओं के धारक पंच परमेष्ठियों में भक्ति किये बिना ही अपनी आराधना की सिद्धि चाहता है, वह मानों बीज बिना धान्य की और मेघ बिना वर्षा की इच्छा करता है।

जैसे वर्षा बिना धान्य नहीं होता, वैसे ही पंचपरमेष्ठी की भक्ति बिना चारों आराधनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। देखो ! पद्मरथ राजा भक्ति के कारण ही देवों द्वारा पूजित होकर गणधर हुआ।

राजा पद्मरथ की कथा :—

मगधदेश के अन्तर्गत मिथिलानगरी में परमोपकारी, दयालु और नीतिज्ञ राजा पद्मरथ राज्य करते थे। वे एक दिन शिकार खेलने गये। वहाँ उनका घोड़ा दौड़ता हुआ कालगुफा के समीप जा पहुँचा। गुफा में सुधर्म मुनिराज विराजमान थे। मुनिराज के शुभदर्शनों से महाराज पद्म अति प्रसन्न हुए। घोड़े से उतर कर उन्होंने भक्ति भाव से मुनिराज को नमस्कार किया। महाराजश्री ने राजा को धर्मोपदेश दिया जिससे वे अति प्रसन्न हुए और विनीत शब्दों में बोले—गुरुराज ! आपके सदृश और कोई मुनिराज इस पृथ्वी पर है या नहीं ? यदि हैं तो कहाँ पर हैं ? मुनिराज बोले—राजन् ! इस समय इस देश में साक्षात् १२वें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी विद्यमान हैं, उनके सामने मैं तो अति नगण्य हूँ। मुनिराज के वचन सुनकर राजा के मन में भगवान के दर्शन की प्रबल इच्छा जागृत हो गई और वह अपने परिजन-पुरजनों के साथ भगवान

के दर्शनार्थ चल पड़ा। उसी समय धन्वन्तरि चरदेव अपने मित्र विश्वानुलोम चर ज्योतिषीदेव को धर्मपरीक्षा के द्वारा जैनधर्म की श्रद्धा कराने के लिए वहाँ आया, उसने भगवान के दर्शनार्थ जाते हुए राजा पर घोर उपसर्ग किया, किन्तु भक्तिरस से भरा हुआ राजा मंत्रियों के द्वारा समझाए जाने पर भी नहीं रुका तथा "ॐ नमः वासुपूज्याय" कहता हुआ बढ़ता ही गया। समवसरण में पहुँच कर राजा ने जन्मजन्मान्तरों के मिथ्याभावों को नाश करने वाले भगवान वासुपूज्य के दर्शन किये, दीक्षा ली और चार ज्ञानों से युक्त होते हुए गणधर हो गये। इसलिये हे क्षपक ! आपको इस सल्लेखनारूपी सरिता को पार करने के लिये भक्तिरूपी नौका का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

णमोकार मन्त्र के चिन्तन का उपदेश :–

भो मुने ! पंच नमस्कार मन्त्र का चिन्तन कषायों की मन्दता और आराधना की सफलता कराने वाला है; संसार का छेद करने में समर्थ है, क्योंकि जैसे सेनापति के बिना चतुरङ्गसेना कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार सल्लेखना के समय पंच-नमस्कार रूप भाव नमस्कार के बिना चारों आराधनाओं में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे हाथ के बिना ध्वजा का ग्रहण नहीं हो सकता उसी प्रकार पञ्चनमस्कार मन्त्र की शरण बिना आराधना रूपी पताका का भी ग्रहण नहीं हो सकता।

देखो ! जब सुभग नाम के अज्ञानी ग्वाल-बालक ने इस चमत्कारी मन्त्र के प्रभाव से एक ही भव में मोक्ष प्राप्त कर लिया, तब क्या चारों आराधनाओं का सुचारुरीत्या पालन करने वाले आपका संसारविच्छेद नहीं होगा ? अवश्य होगा।

सुभग ग्वाले की कथा :–

अङ्गदेशान्तर्गत चम्पापुरी नगरी का राजा धात्रीवाहन था। उसकी रानी का नाम अभयमती था। उसी नगर में वृषभदास नाम का एक सेठ रहता था, जिसकी स्त्री का नाम जिनमती था। इस सेठ के यहाँ सुभग नाम का ग्वाला था, जो सेठ की गाएँ चराया करता था। शीतकाल में एक दिन जब वह गायें चराकर घर लौट रहा था तब उसने एक मुनिराज को ध्यानारूढ़ देखा। "इस भीषण शीत में ये कैसे बचेंगे" इस विकल्प से वह अधीर हो उठा। वह रात्रि भर आग जला कर मुनिराज की शीत वेदना दूर करता रहा। प्रातः मुनिराज ने अपना मौन विसर्जित किया और धर्मोपदेश के साथ-साथ उस ग्वाल बालक को "णमो अरिहंताणं" यह मन्त्र भी दिया। वे स्वयं भी यही पद बोलते हुए आकाशमार्ग से चले गये। मन्त्र उच्चारण के साथ ही मुनिराज का आकाश में गमन देख कर ग्वाले को इस मन्त्र पर अटल श्रद्धा हो गई और वह निरन्तर भोजनादि सम्पूर्ण क्रियाओं के पूर्व महामन्त्र का उच्चारण करने लगा।

एक दिन उसकी गायें गंगा पार चली गईं, उन्हें वापस लाने के लिये वह गंगा में कूदा।

कूदते ही उसका पेट एक तीक्ष्ण काष्ठ के घुसने से फट गया। उस समय उसने महामन्त्र का उच्चारण करके अपने ही सेठ के पुत्र होने का निदान कर लिया। निदान के फलानुसार वह सेठ के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम सुदर्शन रखा गया। काल पाकर सेठ सुदर्शन ने राज्यवैभव का भोग किया। अन्त में दीक्षा धारण की और स्त्रियों एवं देवियों के द्वारा घोर उपसर्ग को प्राप्त होते हुए वे मोक्षगामी हुए।

भो क्षपकराज ! णमोकार मन्त्र के एक अक्षर का भाव-सहित स्मरण करने से सात सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापों का, भावसहित एक पद के स्मरण से ५० सागर पर्यंत भोगे जाने वाले पापों का, भावसहित सम्पूर्ण मन्त्र के स्मरण से ५०० सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापों का नाश हो जाता है तथा भावपूर्वक एक लाख जप करने वाला तीर्थंकर होता है, इसमें सन्देह नहीं है, अतः आपको असंख्य दुःखों का क्षय करने वाले और इस निःकृष्ट पंचम काल में भी कल्पवृक्ष के सदृश मनोरथों को पूर्ण करने वाले इस महामन्त्र का स्मरण निरन्तर करना चाहिये।

ज्ञानोपयोग की महत्ता का उपदेश :–

हे योगिन् ! स्वतत्त्व और परत्तत्व का प्रकाश करने के लिये सम्यग्ज्ञान, दीपक के सदृश है और चित्तरूप मदोन्मत्त हाथी को वशीभूत करने के लिये अंकुश के समान है। जिस प्रकार सुचारू रूप से सिद्ध की हुई विद्या पिशाचों को भी मनुष्य के आधीन कर देती है, उसी प्रकार भलीप्रकार से आराधित सम्यग्ज्ञान, मन रूपी पिशाच को आत्मा के अधीन कर देता है, अतः हे आत्मानुरागी मुने ! आपको भी इस ज्ञानोपयोग की स्थिरता द्वारा अपने मन को क्षुधादि परीषहों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले अशुभ ध्यान से मोड़कर आत्माधीन करना चाहिये।

जिस प्रकार विधिपूर्वक आराधित मन्त्र कृष्ण सर्प के क्रोध को उपशमित कर देता है, उसी प्रकार दिगम्बर गुरुजनों से आराधित ज्ञान, मन रूपी कृष्ण सर्प की भयङ्करता को उपशमित कर देता है।

जैसे वरत्रा (गजबन्धनी) के द्वारा मदोन्मत्त हाथी को बाँधकर पुरजन-परिजन की रक्षा की जाती है, वैसे ही हे क्षपक ! सम्यग्ज्ञान रूपी वरत्रा से मन रूपी हाथी को बाँधकर आत्मा के गुणों की रक्षा करनी चाहिये।

जिस प्रकार बन्दर एक क्षण भी निर्विकार स्थित रहने में असमर्थ है, उसी प्रकार पंचेन्द्रियों के विषयों के बिना यह मन एक क्षण भी निर्विकार स्थित रहने में असमर्थ है, अतः इसे परमागम में इस प्रकार रमण कराना चाहिये, जिससे वह सल्लेखना रूपी महायज्ञ में विघ्न उपस्थित न कर सके।

सूर्य आदि सभी उद्योतों से ज्ञान का उद्योत सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इस उद्योत को न कोई रोक सकता है, न नष्ट कर सकता है, न हरण कर सकता है और न मलिन कर सकता है। यह ज्ञान रूप उद्योत सम्पूर्ण लोक-अलोक को प्रकाशित करने में समर्थ है।

हे साधो ! देखो ! जब यम नाम के राजा तीन खण्ड श्लोकों का स्वाध्याय करने से सप्त ऋद्धियों को प्राप्त हुए थे, तब जो मुनिराज जिनेन्द्रकथित सूत्रों का निरन्तर अध्ययन करते हैं, उनका तो कहना ही क्या ?

यम राजा की कथा :–

उडु देशान्तर्गत धर्मनगर में राजा यम राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धनवती, पुत्र का नाम गर्दभ और पुत्री का नाम कोणिका था। किसी ज्योतिषी ने कोणिका की जन्मपत्रिका देख कर राजा से कहा कि इस कन्या का जिनके साथ विवाह होगा, वह संसार का सम्राट् होगा। यह बात सुनकर राजा ने अन्य क्षुद्र राजाओं की दृष्टि से बचाने के लिये कन्या को बड़े यत्न से रखना शुरु कर दिया।

एक समय धर्मनगर में सुधर्माचार्य ५०० मुनिराजों के साथ आये और नगर के बाहर उद्यान में ठहर गये। अपनी विद्वत्ता के गर्व से गर्वित राजा यम समस्त परिजन और पुरजनों के साथ मुनियों की निन्दा करता हुआ संघ के दर्शनार्थ जा रहा था, किन्तु गुरुनिन्दा और ज्ञानमद के कारण मार्ग में ही उसका सम्पूर्ण ज्ञान लुप्त हो गया और वह महामूर्ख बन गया। इस अनहोनी घटना से राजा दुःखी हुआ और उसने अपने पुत्र गर्दभ को राज्यभार देकर अपने अन्य ५०० पुत्रों के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद भी वे मूर्ख ही रहे। अर्थात् पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण भी वे नहीं कर सकते थे। इस दुःख से दुखित होकर यम मुनिराज गुरु से आज्ञा लेकर तीर्थयात्रा को चल दिये। मार्ग में उन्होंने गर्दभ युक्त रथ, गेंद खेलते हुए बालक और मेढ़क एवं सर्प के निमित्त से होने वाली घटनाओं से प्रेरित होकर तीन खण्डश्लोकों की रचना की, जो इस प्रकार हैं–

(१) कट्टसि पुणणिक्खेसिरे गद्दहा जब पेच्छसि खादिदुमिति।

अर्थ–१. गर्दभयुक्त रथ से सम्बन्धित–रे गर्दभ ! तू इस हरे-भरे जौ के खेत को खायेगा, तो पश्चात्ताप होगा। अर्थात् तुझे मालिक मारेगा।

२. पुत्र से सम्बन्धित–रे गर्दभ (राजपुत्र) ! तू खायेगा (मारेगा) तो पश्चात्ताप होगा।

३. आत्माभिमुख–हे मनरूपी गर्दभ ! यदि तू इन विषयभोगरूपी जौ को खायेगा तो तुझे पछताना पड़ेगा। अर्थात् तेरा संसार-परिभ्रमण होगा।

(२) आणणत्व किं पालोवह तुम्हे पत्थणि बुद्धि या छिद्दे अच्छई कोणिआ इति।

अर्थ–१. बालकों से सम्बन्धित–हे बच्चो ! तुम्हारी बुद्धि में क्या पत्थर पड़ गये हैं ? तुम्हारी कोणिका (गेंद) तुम्हारे पास वाले गड्ढे में पड़ी है। तुम इधर-उधर क्या देखते हो।

२. पुत्र की ओर–हे पुत्र ! तुम्हारी कोणिका (बहिन) तुम्हारे पास वाले गड्ढे (तलघर) में है, तुम इधर-उधर क्या देखते हो।

३. आत्माभिमुख–रे मन रूपी बालक ! तुम्हारा (कोणिका) सुख तुम्हारे भीतर है। तुम इधर-उधर (बाह्य पदार्थों में) खोजते हुए क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहे हो।

(३) अम्हाणत्थि भयं दिहादो दीसदे भय तुम्हेति।

अर्थ–१. घटना की ओर–रे मेढ़क ! तू मुझसे मत डर। तेरे पीछे आने वाले सर्प से भय कर।

२. पुत्र की ओर–रे गर्दभ (राजपुत्र) ! तू मुझ से भय मत कर–तेरे पीछे वाले (मन्त्री) से भय कर।

३. आत्माभिमुख–हे आत्मन् ! तू अपने स्वभाव से भय मत कर–अपने पीछे लगे हुए रागद्वेष आदि से भय कर।

यम मुनिराज, साधुसम्बन्धी प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं कृतिकर्म आदि सभी क्रियाएँ इन तीन खण्ड श्लोकों द्वारा ही किया करते थे, इसी के बल पर उन्हें सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं।

हे क्षपक ! यम मुनि की अपेक्षा तो आपके पास बहुत ज्ञान है, अतः आप उस ज्ञान के बल से अपनी समाधि के अनुष्ठान को सफल बनाने का प्रयत्न करो।

चारित्राराधना की शुद्धि का उपदेश :–

हे साधो ! आपको गुरु द्वारा प्रदत्त पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधिवत् पालन करके चारित्र की विशुद्धि करनी चाहिये, क्योंकि चारित्र की विशुद्धि ही कर्मों का संवर और निर्जरा कराकर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है।

चारित्ररूपी महारत्न के ऊपर प्रमाद रूपी चोरों की दृष्टि लगी हुई है अब रात्रि प्रायः समाप्त होने को है (जीवन कुछ क्षणों का है) ऐसा न हो कि तुम्हारी गाढ़ (मोह) निद्रा, इन चोरों को रत्न चुराने का अवसर प्रदान कर दे।

हे क्षपक ! देखो ! मधुमक्खियाँ थोड़े-थोड़े पराग का सञ्चय करते हुए बहुत काल में मधु एकत्र कर पातीं हैं, किन्तु मधु का इच्छुक पुरुष एक क्षण में उस मधुछत्ते को भेदकर उसका सारभूत पदार्थ निकाल कर ले जाता है। इसी प्रकार आपके द्वारा दीर्घकाल में संचित

किया हुआ मनुष्यपर्याय का सारभूत पदार्थ (संयम या चारित्र) उपसर्ग, परीषह, रोग आदि की तीव्र वेदना और कषाय आदि के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, अतः इसकी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हुए इसकी वृद्धि में प्रयत्नशील रहो।

हे मुने ! इस समाधि रूपी सम्बल के द्वारा संयम की पूर्णता कर लेनी चाहिये, किन्तु यदि पूर्णता न कर सको तो कम से कम चारित्र की जितनी विशुद्धि है उसे तो मत छोड़ो।

तपआराधना की शुद्धि का उपदेश :–

हे साधो ! आत्मकल्याण के लिये चित्त-संक्लेश, दुर्ध्यान, दुर्लेश्या, आलस्य, सुखों में आसक्तता, शरीर का सुखियापना तथा आस्रव के और भी अन्य कारणों को रोक कर आपको बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तपों की परमविशुद्धि करनी चाहिये, क्योंकि मायाचाररहित उज्ज्वल परिणामों से किया हुआ तप उभयलोक में विविध प्रकार की ऋद्धि को प्रदान करने वाला है। वटवृक्ष के बीज की भाँति अल्प भी तप असंख्यकाल के अगणित कर्मों का नाश करने वाला है जैसे विवेकपूर्वक दी हुई शक्तिवान् औषधि भीषण रोगों का नाश करती है, वैसे ही शक्तिप्रमाण किया हुआ अल्प भी सम्यक् तप, जन्म-मरण रूपी रोग को नष्ट करने वाला है; संसार की महादाह को शान्त करने के लिए शीतल गृह है; कामनापूर्ति के लिये कामधेनु है; वांछित फल प्रदान करने के लिये चिन्तामणि रत्न है, उत्तम मंगलभूत है; सच्चा शरण है और कर्म रूपी तृणों को दग्ध करने के लिये दावानल है।

भो तपस्विन् ! जैसे अपने प्रयोजन को सिद्ध करने वाला स्वामी, वेदना से पीड़ित नौकर पर दया न करते हुए उसे अपने कार्य में प्रेरित किये रहता है वैसे ही संस्तर-ग्रहण से जीर्ण-शीर्ण हुए तथा रोगादि वेदना से युक्त इस शरीर रूपी नौकर पर दयादृष्टि न करते हुए मात्र अपने प्रयोजन (समाधिसिद्धि) की सिद्धि में ही प्रयत्नशील रहो।

धर्मध्यान में रत रहने का उपदेश :–

हे आत्मन् ! इस जीव को आज तक वेदनारहित, स्वाधीन अविनाशी, अन्तरहित, अप्रमाण और निराकुल लक्षण वाले आत्मीक सुख का अनुभव नहीं हुआ, इसीलिये यह जीव दीनहीनों के सदृश विषयसुखों की इच्छा से यत्र-तत्र भटक रहा है। इन क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये निरन्तर क्लेश के कारण आर्त्तरौद्र ध्यानों में निमग्न रहता है। देखो ! आपने अति धीरतापूर्वक संस्तर ग्रहण किया है अतः अब क्षुधादि वेदना या रोगादि की पीड़ा के वशीभूत होकर संतृप्त एवं क्लेश रूप नहीं होना चाहिए, क्योंकि सन्तप्त होना, क्लेश करना, वैयावृत्त्य में तत्पर साधुजनों से कलह करना, चिन्ता करना, परीषह आदि से खेद रूप होना, षट् आवश्यक आदि क्रियाओं में आलस्य करना, आहार आदि त्याग कर देने का पश्चात्ताप करना, वेदना आदि के कारण हाहाकार करना, शरीर आदि की सुखप्राप्ति के लिये मन में उत्कण्ठा होना,

अधिक निद्रा लेना और बेसुध आदि हो जाना ये सब आर्त्तध्यान के लक्षण हैं, अतः हे सुखार्थी ! शाश्वत सुख के लिये इन आर्त्त-रौद्र ध्यानों को छोड़कर सतर्कतापूर्वक धर्मध्यान में प्रवृत्ति करो।

आर्जव ही धर्मध्यान का लक्षण है, अतः हे क्षपक ! धर्मध्यान में स्थित रहने के लिये मायाचार का सर्वथा त्याग करो, क्योंकि कषायों का निग्रह, इन्द्रिय-दमन, चित्तनिरोध और रत्नत्रय में दृढ़ता आदि लक्षण धर्मध्यान के द्योतक हैं।

हे क्षपक ! रत्नत्रय आदि अनेक गुणरत्नों से भरी हुई तुम्हारी नौका, संस्तररूपी (समुद्र) किनारे तक आ चुकी है, अब कहीं यह परीषह आदि झंझावात के झोकों से डूब न जाय। इसकी रक्षा अति आवश्यक है और वह धर्मध्यान के अवलम्बन से ही हो सकती है, अतः चारों प्रकार के धर्मध्यानों में ही प्रवृत्ति करो।

वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं का उपदेश :–

धर्मध्यान में निरत हे क्षपक ! तुम संसार, शरीर और भोगों में लगे हुए अपने रागभाव को दूर करने के लिये वैराग्यवर्धक बारह भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करो। ये द्वादश भावनाएँ वैराग्य की माता हैं, समस्त जीवों का हित करने वाली हैं, दुःख पीड़ित जीवों को शरणभूत हैं, आत्मा को प्रसन्न करने वाली हैं, परमार्थ मार्ग को दिखाने वाली हैं, तत्त्वों का निश्चय कराने वाली हैं, सम्यक्त्व की रक्षा करने वाली हैं और अशुभध्यानों को नष्ट करने वाली हैं, अतः कल्याण की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये तुम्हें नित्य ही इनका चिन्तन करना चाहिए।

विशेष–यहाँ अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का पृथक्-पृथक् उपदेश सुनाना चाहिये।

क्षुधावेदना शमन करने का उपदेश :–

अहो साधो ! कर्माधीन होकर, इस भव वन में परिभ्रमण करते हुए आपने अनेक सागर पर्यन्त इस सर्वांग-शोषिका क्षुधा वेदना को भोगा है। यह भव आपका कृतार्थ है, जिसमें आहारपरित्यागपूर्वक आपने गुरु के सान्निध्य में सल्लेखना ग्रहण की है। अहो ! धन्य है आपका पुरुषार्थ जो इस क्षुधा वेदना को आमन्त्रित करके बुलाया है। भो क्षपक ! बुद्धिपूर्वक बुलाई हुई यह असह्य वेदना आपकी अतिथि है, अतः परिणामों को संक्लेशित करके अतिथि का निरादर नहीं करना, सोत्साह इसका आदर करो। अर्थात् धैर्यपूर्वक इसे सहन करते हुए अपने आत्मगुणों की सुरक्षा करो।

भो आत्मन् ! तुम नरक गति में उत्पन्न होने वाली अति दुःसह और सर्वाङ्ग-दाहक क्षुधा वेदना का अनुभव करो। देखो ! यह आत्मा अनन्त बार नरकों में उत्पन्न हुआ, जहाँ

स्वभाव से ही इतनी अधिक भूख लगती है कि संसार का समस्त अन्न खा लेने पर भी शान्त नहीं हो सकती किन्तु हाय ! एक कणकी भी प्राप्ति वहाँ दुर्लभ है। भो साधो ! कर्मों के वशीभूत होकर जब आपने सागरों पर्यन्त मेरु सदृश महान् कष्ट भोगा है तब यह अल्पकाल का और सरसों सदृश अति अल्प कष्ट क्या कोई कष्ट में कष्ट है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है, इसे आप शांतिपूर्वक सहन करो। हे मुने ! क्षुधा वेदना से उत्पन्न होने वाली इस दीनता और कायरता का त्याग करो तथा सन्तोषामृत रूपी भोजन से अपनी आत्मा को तृप्त करो।

हे क्षपक ! इसी प्रकार तिर्यञ्चगतिजन्य अनेक पर्यायों में अनेक प्रकार से असह्य भूख की पीड़ा सहन की है। मनुष्य पर्याय में भी बन्दीगृह आदि में तथा नीच, दरिद्र आदि खोटे कुलों में तथा दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर भूख से आकुल-व्याकुल होते अति उग्र दुःखों को अनन्त काल तक भोगा है, उसका स्मरण करो, और सन्तोष रूप आहार से इस तपोजनित क्षुधा वेदना की ज्वाला को दृढ़तापूर्वक शांत करो। देखो ! छिद्रयुक्त पात्र के सदृश इस शरीर को जीवन भर अनेक प्रकार के भोजन-पान से भरा है किन्तु यह कभी पूर्ण नहीं भरा गया, तत्काल खाली होता गया क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है इसलिए अब सल्लेखना की सिद्धि के लिए रागभाव का विनाश कर अपने मन को ज्ञानामृत से तृप्त करो। अहो क्षपक ! जिस प्रकार जल के सिंचन से चमड़ा दुर्गन्ध ही छोड़ता है उसी प्रकार अन्नपानादि देने से यह शरीररूप चमड़ा भी विष्ठा आदि मल के द्वारा दुर्गन्ध ही छोड़ता है अतः अब आपका उपयोग मल की वृद्धि करने वाले शरीर के सिंचन की ओर कदापि न जाना चाहिए प्रत्युत् दुष्कर तप रूपी अग्नि के द्वारा इसे सुखाना ही चाहिए क्योंकि जैसे भली प्रकार सुखाया हुआ चमड़ा दुर्गन्ध रूपी विकार को छोड़ देता है उसी प्रकार तपों से भली प्रकार सुखाया हुआ यह शरीर भी मल-मूत्र आदि विकारों को छोड़कर निर्मल बन जाता है।

हे वीर ! चूँकि आपके शरीर में मात्र चमड़ी और हड्डी ही अवशेष है अतः आप अपनी धीर-वीरता से इस क्षुधावेदना रूपी जगद्विजयी शक्ति को नष्ट करने में समर्थ हो, अपनी अपूर्व शक्ति को जाग्रत करो और इस क्षुधाशत्रु का मूलोच्छेद कर अनन्त सुख के भाजन बनो।

उदर में जो जठराग्नि प्रज्वलित हो रही है उसे अपने उपयोग में लेकर ऐसा विचार मत करो कि यह वेदना दुःसह्य है, यह काल निःकृष्ट है, मेरा संहनन हीन और आयु अभी बहुत दिखाई देती है, उस स्थिति में मैं इस क्षुधा वेदना रूपी तस्कर से अपने सल्लेखना रूपी रत्न की रक्षा करने में असमर्थ हूँ, कायर हूँ इत्यादि। हे साधो ! इस भयङ्कर परिस्थिति में आप अपने स्वरूप का बार-बार स्पर्श करो, दृष्टि अन्तर्मुखी करके अपने सहज स्वाभाविक सुख का अनुभव करो। जड़ शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली यह क्षुधा वेदना क्या आपके त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को स्पर्श कर सकती है ? नहीं, कभी नहीं।

हे आत्मसुखार्थी ! इस क्षुधादि वेदना के पड़ोसी बनकर इस शरीर के माध्यम से उत्पन्न होने वाले समस्त दृश्यों के मात्र ज्ञाता दृष्टा बनो और संयम रूपी कुम्भ में धारण किये

हुए धैर्य रूपी अमृत से क्षुधा रूप अग्नि को शान्त कर आत्मोत्थ सुख का रसास्वादन करो।

तृषावेदना शमन करने का उपदेश :–

हे आत्मश्रद्धावान् योगी ! कर्म शत्रुओं से युद्ध करने वाले आपको बाह्याभ्यन्तर शरीर को शुष्क कर देने वाली जो यह तृषावेदना उत्पन्न हुई है यह आपके ज्ञायक स्वभाव को स्पर्श नहीं कर सकती। आप आत्मस्वभाव के अवलम्बन से इस पर विजय प्राप्त करो। देखो ! नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने सागरों पर्यन्त प्यास की भयङ्कर वेदना भोगी है। स्मरण करो नरकों की उस वेदना को जो दावानल की ज्वाला के सदृश निरन्तर जलाती थी। विश्व के समस्त जलाशयों के जल से भी जो शान्त होने वाली नहीं थी। मरण प्राप्त करा देने वाली वेदना होते हुए भी जहाँ मरण नहीं होता था, वहाँ क्या कोई भी हितचिन्तक तुम्हें एक बूँद भी जल पिला सका अथवा अन्य कोई शीतोपचार कर सका ? नहीं । तब यहाँ तो उतनी भयङ्कर वेदना भी नहीं है और संघस्थ साधु एवं श्रावकगण शीतोपचार आदि के साधन भी जुटा रहे हैं। इतना ही नहीं, पूर्वोपार्जित पुण्योदय से निरन्तर शीतल ज्ञानामृत का पान भी कराया जा रहा है, इससे सन्तोष प्राप्त करो। समय को पहिचानो, यह समय गाफिल होने का नहीं है किन्तु सावधानीपूर्वक अपने संयमादि गुणों की रक्षा का है। अहो साधो ! यदि आपने कर्माधीन होकर कुगतियों में प्यास के अनन्त दुखों को सहन किया है, तो फिर आज स्ववश होकर कर्मबन्धन से छूटने के लिए प्यास के इस अल्प से दुःख को शांतिपूर्वक सहन नहीं करना चाहिये क्या ? अवश्य ही करना चाहिए।

भो मुने ! देखो ! आप तो वसतिका की शीतल छाया में लेटे हुए हो। साधुगण आपको धर्मामृत का निरन्तर पान करा रहे हैं, आपके अनुकूल वैयावृत्त्य में तत्पर हैं, यथायोग्य बाह्य उपचार भी किये जा रहे हैं, किन्तु बेचारे दीन-हीन उन पशुओं का विचार करो, जिन्होंने गुरुओं के उपदेश से एकदेश संयम धारण कर अन्त में समाधिमरण ग्रहण किया और अन्त तक उसका सुचारूरीत्या निर्वाह किया।

धन्य है उन पशुओं की समता को जो बेला, तेला आदि उपवासों के द्वारा अपने शरीर को कृश कर लेते हैं, उपवासों के बाद जिनकी पारणा का कोई साधन नहीं। प्यास से प्राण व्याकुल हो रहे हैं किन्तु शरीर में इतनी शक्ति नहीं कि सरोवर तक जा सकें यदि किसी प्रकार वहाँ पहुँच भी गये तो सरोवर में पैर रखते ही विकट कीचड़ में फँस गये। सामने जल दिखाई दे रहा है किन्तु कीचड़ में फँस जाने से पी नहीं सकते। शक्तिहीन होने के कारण न निकल पाते हैं, न बैठ पाते हैं और न लेट पाते हैं, कई-कई दिनों तक वैसे ही फंसे रहते हैं, ऊपर से गर्मी-सर्दी की वेदना सहन करते हैं फिर भी अपनी समता नहीं छोड़ते, ग्रहण किये हुए संयम एवं सम्यक्त्व का विघात नहीं करते।

हे क्षपक ! सोचो वहाँ कौन उन्हें सम्बोधन देने वाला है ? कौन धर्म में स्थिर करने वाला है ? कौन आत्मस्वरूप की चर्चा करने वाला है ? कौन उनके शरीर को सँभालने वाला है ? कौन बाह्य उपचार करने वाला है और कौन उनकी सल्लेखना का निस्तरण कराने वाला है ? वे अपने ही श्रद्धा-ज्ञान के बल पर उस संकटकालीन अवस्था में अपनी समता नहीं छोड़ते और स्वर्ग के भाजन बनते हैं, तो क्या हम उनसे भी अधिक कायर हैं ? कमजोर हैं ? या ज्ञानहीन हैं ? नहीं। नहीं। अनन्त धन के धनी, ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण, वैराग्य रस से भरी हुई और भेदविज्ञान रूपी रंग में रंगी हुई हमारी आत्मा को यह तृषा आदि की वेदना चलायमान नहीं कर सकती।

हे क्षपक ! इस प्रकार आत्मशक्ति के अवलम्बन से धैर्य रूपी घड़े में ध्यान रूपी शीतल एवं सुगन्धित जल से तृषा रूपी अग्नि की शिखा को बुझा कर शान्त करो और अपने उसी धैर्य रूपी गृह में विवेक रूपी दीपक के उद्योत से निजस्वरूप का अवलोकन करते हुए अपने संयमादि गुणों की रक्षा करो।

इसी प्रकार क्षपक को शय्या परीषह, अरति, रोग, आक्रोश और शीतोष्ण आदि परीषहों के जीतने का उपदेश देना चाहिये। विस्तार भय से वह सब यहाँ नहीं लिखा जा रहा है।

हे आत्मन् ! समाधिमरण के सर्वोत्तम समय को प्राप्त करके आराधनासहित मरण के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यह अवसर अब अनन्त भवों में भी नहीं मिलेगा। देखो ! श्यालनी द्वारा तीन दिन तक खाये जाने पर भी सुकुमाल महामुनि ने आराधनाएँ नहीं छोड़ीं, फिर आपके शरीर में ऐसा कौनसा कष्ट है जो आप आकुलित हो रहे हैं।

सुकुमाल मुनि की कथा :–

अवन्तिदेश के उज्जैन नगर में रहने वाले सुरेन्द्रदत्त सेठ और यशोभद्रा सेठानी के सुकुमाल नाम का एक पुत्र था। वह इतना सुकुमार था कि आसन पर पड़े हुए राई के दाने भी उसके चुभते थे; दीपक की लौ की ओर देखने पर उसकी आँखों में पानी आ जाता था। सुकुमाल अतुल वैभव के बीच स्वर्गोपम भोगों को भोगते हुए सुखपूर्वक अपना जीवनयापन कर रहे थे। एक दिन आपके मामा यशोभद्र मुनिराज लोकप्रज्ञप्ति का पाठ कर रहे थे, उसे सुनकर आपको जातिस्मरण हो गया। पूर्व भवों में भोगे जाने वाले दुःखों की स्मृति मात्र से ये काँप उठे और उसी समय महल से निकल कर मुनिराज के पास जाकर दीक्षित हो गये। अपनी आयु मात्र तीन दिन की जानकर सुकुमाल मुनि जंगल में चले गये और वहाँ प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्मध्यान में लीन हो गये। उसी समय पूर्वभव के बैरसंस्कार के वशीभूत होती हुई एक स्यालनी वहाँ बच्चों सहित आई और उसने उनके शरीर को खाना शुरू कर दिया। तीन दिन तक निरन्तर खाती रही। इस भयङ्कर उपसर्ग के आ जाने पर भी सुकुमाल मुनि सुमेरु सदृश निश्चल रहे और अपनी चारों आराधनाओं के अवलम्बन से समतापूर्वक शरीर को त्यागकर अच्युतस्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए।

भो क्षपक ! यह कथा केवल सुनने के लिए ही नहीं है किन्तु अपने मन में कल्पना करो कि यदि कोई पशु आपके शरीर का मांस निकाल-निकाल कर खा रहा हो तो उससे जिस प्रकार के कष्ट का अनुभव होगा क्या वैसा ही कष्ट वर्तमान में आपको है ? यदि नहीं है तो हे साधो ! विचार करो कि मैं दर्शनज्ञान उपयोग लक्षण वाला हूँ, एक हूँ, सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा और मृत्यु से रहित हूँ, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अनन्त गुणों का भण्डार हूँ। यह शरीर अचेतन है, निन्द्य है, क्षणक्षयी है तथा मलमूत्र आदि का आधार होने से दुःखों का स्थान है, इसलिए इस शरीर के माध्यम से उत्पन्न होने वाले अल्प कष्टों के वशीभूत होकर चिरकाल से भावित आराधनाओं का विनाश मुझे नहीं करना चाहिए।

भो भव्यात्मन् ! अब महामुनि उपसर्गविजेता सुकोशल महाराज की कथा सुनो और विचार करो कि जब वे इतना भयङ्कर उपसर्ग आने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नहीं हुए तब मेरे शरीर में ऐसा क्या कष्ट है, जो मैं खेदखिन्न होता हुआ आर्तध्यान रूपी वनी में भटक रहा हूँ।

सुकोशल मुनिराज की कथा :–

अयोध्या नगरी में प्रजापाल राजा राज्य करते थे। उसी नगर में सिद्धार्थ नाम के सेठ अपनी सहदेवी आदि बत्तीस स्त्रियों के साथ सुख से रहते थे। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके सुकोशल नाम का एक पुत्र हुआ, जिसका मुख देखते ही सिद्धार्थ सेठ मुनि हो गये। सुकोशलकुमार का भी बत्तीस कन्याओं से विवाह हुआ। उनके साथ वे महाविभूति का उपभोग करते हुए सुख से जीवनयापन करने लगे। एक समय विहार करते हुए सिद्धार्थ मुनि भिक्षार्थ अयोध्या आये। "इन्हें देखकर मेरा पुत्र मुनि हो जाएगा" इस भय से सेठानी ने उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया। "जो एक दिन इस नगर के सेठ थे उन्हीं का आज इतना अनादर किया जा रहा है" यह सोचकर सुकोशल की धाय को बहुत दुःख हुआ और वह रोने लगी। सुकोशल ने उससे रोने का कारण पूछा। धाय से (अपने पिता) मुनिराज के अपमान की बात सुनकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने उसी समय उन्हीं मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा की बात सुनते ही सुकोशल की माँ अत्यन्त दुःखी हुई और पुत्रवियोगजन्य आर्तध्यान से मरकर वह मगध देश के मौद्गिल नामक पर्वत पर व्याघ्री हुई। सिद्धार्थ और सुकोशल मुनिराज ने उसी पर्वत पर योग धारण किया था। योग समाप्त होने पर भिक्षा के लिये पर्वत से उतरते हुए युगल मुनिराजों को व्याघ्री ने देखा और झपटकर अपने ही पुत्र सुकोशल मुनि को खाने लगी। मुनिराज ने उपसर्ग प्राप्त होने पर संन्यास धारण कर लिया और चारों आराधनाओं का आराधन करते हुए शरीर का परित्याग कर सर्वार्थसिद्धि में देव हुए।

भो आत्मदर्शी ! सुकोशल मुनिराज जिस प्रकार समाधिमरण के प्रभाव से सप्त धातुमयी महान् अशुचि और विनाशीक देह का परित्याग कर दिव्यवैक्रियिक शरीर को प्राप्त होते हुए

नाना प्रकार की सुख-सम्पदाओं के स्वामी हुए, उसी प्रकार आप भी इस मृत्यु नामक कल्पवृक्ष को प्राप्त करके अपने आत्मकल्याण में ही पुरुषार्थ करो। देखो ! समाधिमरण के सदृश इस जीव का उपकार करने वाला अन्य कोई नहीं है। इस देह के सम्पर्क से असंख्यात और अनन्त काल पर्यन्त महान् दुःख भोगते हुए तथा जन्म-मरण रूप अनन्त परिवर्तन पूर्ण करते हुए इस जीव की रक्षा करने में आजतक कोई समर्थ नहीं हुआ, न कोई शरणदाता ही मिला। किसी विशेष पुण्योदय से मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रियों की पूर्णता, सत्पुरुषों का समागम तथा भगवान् जिनेन्द्र के परमागम का उपदेश प्राप्त हुआ है अतः अब श्रद्धान, ज्ञान, योग एवं संयम आदि के अवलम्बन से देह से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हुए भय रहित चारों आराधनाओं का शरण ग्रहण करो क्योंकि त्रैलोक्य में जीव का हित करने वाला अन्य कोई नहीं है। संसारपरिभ्रमण से छुड़ाने का सामर्थ्य समाधिमरण में ही है।

भो मुने ! देखो ! गजकुमार मुनि पर कैसा उपसर्ग आया था। क्या वे अपने लक्ष्य से विचलित हुए ? नहीं। तो आपको भी उनके ही सदृश धैर्य का अवलम्बन लेना चाहिए।

गजकुमार मुनिराज की कथा :–

श्रीकृष्ण नारायण के सुपुत्र गजकुमार अति सुकुमार थे। वे अपने पिता आदि के साथ धर्मोपदेश सुनने के लिये भगवान् नेमिनाथ के समोसरण में जा रहे थे। मार्ग में एक ब्राह्मण की नवयौवना, सर्वगुणसम्पन्ना, सुलक्षणा और सौन्दर्यमूर्ति पुत्री को देखकर श्रीकृष्ण ने उसकी उसके पिता से गजकुमार के लिये मंगनी करली और उसे अंतःपुर में भिजवा दिया। भगवान् का उपदेश सुनकर श्रीकृष्ण तो सपरिवार द्वारका लौट आये परन्तु गजकुमार नहीं लौटे। वे जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके किसी एकान्त स्थान में ध्यानारूढ़ हो गये। जिस विप्रकन्या का सम्बन्ध गजकुमार से हुआ था उसका पिता जंगल से समिधाओं का संग्रहकर लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसे ही मुनि गजकुमार पर पड़ी, वह आगबबूला हो उठा और बोला–"रे दुष्ट ! मेरी अत्यन्त प्रिय सुकुमारी पुत्री को विधवा बनाकर तू साधु बन गया है, मैं अभी देखता हूँ तेरी साधुता को" ऐसा कहकर उसने अपने साथ लाई हुई लकड़ियाँ जलाईं। समीप ही तालाब था। तालाब के पास की गीली मिट्टी लाकर उससे गजकुमार के केशलुंचितं सिर पर चारों ओर पाल बाँधकर उसके भीतर धधकते हुए अंगारे भर दिये। गजकुमार का सिर बैंगन के भुर्ते के सदृश खिल गया, कपाल फट गया, परन्तु गजकुमार मुनिराज ने उपसर्ग के प्रारम्भ में ही समाधिमरण अंगीकार कर लिया था। वे उस तीव्र अग्नि की पीड़ा के द्वारा भी ग्रहण की हुई आराधनाओं से विचलित नहीं हुए और अन्तःकृत केवली होते हुए मोक्ष को प्राप्त हुए।

हे योगिन् ! यदि तत्वदृष्टि से विचार किया जाय तो गजकुमार की वेदना का शतांश दुःख भी आपके शरीर में नहीं है, और पूर्वोपार्जित पापोदय से यदि कुछ वेदना है भी तो आपको उसमें अपने उपयोग की संलग्नता नहीं करनी चाहिए। आपको तो निरन्तर अपनी आत्मा के

विषय में यह चिन्तन करना चाहिए कि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, निर्विकार हूँ, महान् हूँ, अरूपी हूँ, अतीन्द्रिय हूँ, सर्वविद् हूँ, सर्वदर्शी हूँ, परमात्मा हूँ, प्रसिद्ध हूँ और स्वसंवेदनगम्य हूँ। द्रव्यदृष्टि से जब मेरा स्वभाव इस प्रकार का है तब मुझे कर्मजन्य वेदना आदि के द्वारा क्या दुःख दिया जा सकता है ? मेरे शुद्ध स्वभावी गढ़ के भीतर किसी भी प्रकार की आकुलता आदि का प्रवेश नहीं हो सकता। इसी आत्मचिन्तन की शक्ति से अपने संयमादि गुणों की रक्षा करो।

अहो साधो ! असाताकर्मोदय से उत्पन्न होने वाले इन क्षुद्र रोगों से अपने चित्त को आकुलित मत करो। देखो ! सनत्कुमार मुनिराज के शरीर में भयङ्कर कुष्ठ वेदना उत्पन्न हुई थी, उस समय उन्होंने उसकी उपेक्षा करके आराधनाओं का ही संरक्षण किया। आपको भी उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

सनत्कुमार मुनिराज की कथा :–

भारतवर्ष के अन्तर्गत वीतशोक नगर में राजा अनन्तवीर्य रानी सीता के साथ कालयापन करते थे। उनके सनत्कुमार नाम का अत्यन्त रूपवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, जो महापुण्योदय से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त कर नवनिधि और चौदह रत्नों का स्वामी हुआ। एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में उनके रूप की प्रशंसा कर रहा था, जिसे सुनकर मणिचूल और रत्नचूल नामके दो देव गुप्त वेष में आये और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का त्रिभुवनप्रिय सर्वसुन्दर रूप देखकर आश्चर्यान्वित हुए। इसके बाद उन देवों ने अपने असली वेष में प्रकट होकर वस्त्रालंकारों से अलंकृत सिंहासन पर स्थित चक्रवर्ती के रूप को देखा और क्षुब्ध हो उठे। राजा ने इसका कारण पूछा तो देव बोले–महाराज ! यथार्थ में आपका रूप देवों को भी दुर्लभ है, इसकी तो हमें प्रसन्नता है किन्तु मनुष्य का रूप क्षणक्षयी है, यह देखकर हमें खेद हुआ। जो रूप कुछ समय पहले स्नानगृह में देखा था, वह अब दिखाई नहीं देता। यह बात सभासदों की समझ में नहीं आई, तब देवों ने पानी से भरा हुआ एक घड़ा मंगाया और उसमें से एक बूँद जल निकालकर सभासदों से पूछा कि बताओ पहले से इस घड़े में कुछ विशेषता दिखाई दी क्या ? यह सब चमत्कार देखकर चक्रवर्ती को वैराग्य हो गया और वे जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके तपश्चरण में संलग्न हो गये। पूर्व पापोदय से उनके सारे शरीर में भयङ्कर कुष्ठ उत्पन्न हो गया। एक देव उनके धैर्य की परीक्षा लेने के लिये वैद्य का वेष धारण करके आया और उपचार कराने का आग्रह करने लगा, तब मुनिराज बोले–भो वैद्य ! मुझे जन्म-मरण का भयंकर रोग दुःख दे रहा है, यदि आप इस रोग की चिकित्सा कर सकते हो तो करो। महाराज की बात सुनकर वैद्य अत्यन्त लज्जित हुआ और चरणों में गिरकर बोला–स्वामिन् ! इस रोग की रामबाण औषधि तो आपके पास ही है। इस प्रकार देव मुनिराज के निर्दोष चारित्र की और शरीर में निर्मोहपने की प्रशंसा करता हुआ स्वर्ग चला गया। सनत्कुमार मुनिराज की कुष्ठ वेदना क्षण-प्रतिक्षण वृद्धिगत होती गई किन्तु मुनिराज

ने अपने धैर्य से उस परीषह पर विजय प्राप्त की और वे अष्ट कर्मों को नष्ट कर मोक्षलक्ष्मी के स्वामी बने।

अहो क्षपक ! विचार करो कि जिनका शरीर गल रहा था, दुर्गन्ध दे रहा था, जिसमें से खून और पीप बह रहे थे, तो भी महात्मा साधु ने उसकी कोई चिन्ता नहीं की और शरीर के प्रति सदा निर्मोह रहे, फिर आपके शरीर में तो ऐसा कोई भयंकर रोग भी उत्पन्न नहीं हुआ है और यदि कुछ है भी तो आपको विचार करना चाहिए कि यह रोग इस जड़ पदार्थ को पीड़ा दे रहा है, किन्तु अमूर्त एवं चिदानन्द आत्मा को पीड़ा नहीं दे सकता। जैसे घर में लगी हुई आग घर को तो जला सकती है किन्तु घर के भीतर विद्यमान अमूर्त आकाश को नहीं जला सकती। शरीर में उत्पन्न होने वाले ये रोग मेरे परम हितकारी हैं क्योंकि ये पूर्वोपार्जित पापकर्मों का विनाश करते हैं और शरीर के प्रति होने वाले राग का उपशम कराकर संवेग की वृद्धि करते हैं, इसलिये मेरे पड़ोसी शरीर में होने वाले रोगों की मुझे कोई चिन्ता नहीं है, यदि चिन्ता है तो मात्र इतनी की चिरकाल से आराधित इन आराधनाओं का विघात न हो।

हे मुने ! प्रायः देखा जाता है कि कष्ट एवं रोगादि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्ति अपनी श्रद्धा से च्युत हो जाते हैं, किन्तु धन्य है आचार्य समन्तभद्र को जो महाभयंकर रोग के उत्पन्न हो जाने पर भी अपनी समीचीन श्रद्धा से विचलित नहीं हुए।

समन्तभद्र मुनिराज की कथा :–

समन्तभद्र स्वामी का जन्म दक्षिण प्रान्त के अन्तर्गत काञ्चीनगर में हुआ था। आप राजा के पुत्र थे। आपका पूर्व नाम शान्तिवर्मा था किन्तु आप दीक्षा के बाद समन्तभद्र नाम से प्रसिद्ध हुए। आप बड़े तत्त्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण एवं साहित्य आदि विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। घोर तपस्वी एवं उत्कट विद्वान् होने पर भी आपको असातावेदनीय के तीव्र उदय से भस्मक नाम का भयंकर रोग हो गया था। आपने आगम परम्परानुसार गुरु से समाधि की याचना की किन्तु "इनके द्वारा जैनधर्म का विशेष उद्योत होने वाला है" यह समझकर गुरु ने इन्हें समाधि की आज्ञा न देकर रोगशमन करने की आज्ञा दी।

स्वामी समन्तभद्र राजा के शिवालय में जाकर पुजारी बन गए। उन्होंने यह प्रसिद्धि कर दी कि मैं यह सारा का सारा चढ़ावा (भोज्य पदार्थ–फल, मेवे, मिष्ठान्नादि) भगवान शिव को खिला देता हूँ जबकि वे यह सारी सामग्री स्वयं खा लेते। धीरे-धीरे रोग का शमन होने लगा तो खाद्य सामग्री बचने लगी। लोगों ने राजा से शिकायत की कि यह तो कोई ढोंगी है, शैव नहीं है, भगवान शिव को नमस्कार भी नहीं करता है।

लोगों की शिकायत सुनकर स्वयं राजा वहाँ आए और उन्होंने पुजारी बने समन्तभद्र से शिवपिण्डी को नमस्कार करने के लिए कहा–

आपने अपनी समीचीन श्रद्धा के बल पर राजा से कह दिया कि राजन् ! मैं शिवपिण्डी को नमस्कार तो कर सकता हूँ, किन्तु मेरा नमस्कार सहन करने का सामर्थ्य शिवपिण्डी में नहीं है। कारण—वे राग, द्वेष, क्रोध, मान और माया आदि विकारों से दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के पालन का भार एक सामान्य व्यक्ति नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृति को रागद्वेषादि विकारों से अपवित्र देव नहीं सह सकता, किन्तु जो अठारह दोषों से रहित हैं, केवलज्ञान रूपी प्रचण्ड तेज के धारक हैं और लोकालोक के प्रकाशक हैं, वही जिन सूर्य मेरे नमस्कार के योग्य हैं और वही मेरे नमस्कार को सहन कर सकते हैं। इसके बाद भी यदि आप विशेष आग्रह करते हैं तो इस शिवपिण्डी की कुशल नहीं, यह तुरन्त फट जायगी।

जैनधर्म पर कितनी अटूट श्रद्धा, कितनी दृढ़ता, कितना दृढ़ विश्वास जिसके बल पर पाषाण की शिवपिण्डी में से चन्द्र के समान चन्द्रप्रभु भगवान् की जिनप्रतिमा प्रगट करके जैनधर्म का उद्योत किया।

हे क्षपक ! आप भी रागादिक विकारों से रहित, त्रैकालिक शुद्ध, प्रचण्ड तेज के धारक अपने ज्ञायक स्वभाव की अटल श्रद्धा के बल पर इस जड़ शरीर के माध्यम से सल्लेखना रूपी महायज्ञ को सफल बनाकर अपनी आत्मा का उत्थान और धर्म की प्रभावना करो।

ललितघटादि बत्तीस मुनियों की कथा :—

कौशाम्बी नगरी में इन्द्रदत्त, जिनदत्त और सागरदत्त आदि नामधारी बत्तीस सेठ रहते थे। इनके वसुमित्र और समुद्रदत्त आदि नाम वाले बत्तीस ही पुत्र थे। ये सभी पुत्र धर्मात्मा, विद्वान, गुणवान् और सम्यक्त्व रूपी रत्न से विभूषित थे तथा ललितघटादि नाम से प्रसिद्ध थे। इन सबकी परस्पर गाढ़ी मित्रता थी। एक दिन ये सभी मित्र मिलकर केवलज्ञानी योगिराज का पूजन करने गये। इन सबने भक्ति से भगवान् की पूजन की और धर्म का उपदेश सुना। वहीं इन्हें यह ज्ञात हो गया कि हम सबकी आयु बहुत अल्प रह गई है, अतः सभी ने संसारपरिभ्रमण को मिटाने वाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेकर तपस्या करते हुए ये बत्तीसों मुनिराज यमुना किनारे आये और वहीं प्रायोपगमन संन्यास लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। इन्हीं दिनों जोर की वर्षा हुई और यमुना में पूर आ गया तथा एक ऐसे जोर का प्रवाह आया कि वे सभी मुनिराज नदी में बह गये और अन्त में समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़कर स्वर्गवासी हुए।

भो क्षपक ! बत्तीस मुनिराजों के सदृश आपको भी अपना शरीर समाधिमरणपूर्वक छोड़ने का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इस मनुष्यपर्याय में समाधिमरण का संयोग साक्षात् कल्पवृक्ष है, जो भी वांछित पदार्थ लेना चाहो, इससे ले सकते हो। जो भेदविज्ञानसहित निज स्वभाव को ग्रहण करके आराधना सहित मरण करोगे तो स्वर्ग के इन्द्रादि पदों का भोग करने के पश्चात्

तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि होकर निर्वाण प्राप्त करोगे। त्रैलोक्य में समाधिमरण जैसा अन्य कोई दाता नहीं। ऐसे दाता को प्राप्त करके भी यदि विषयकषाय के वशीभूत रहोगे तो नरक-निगोद में पड़ोगे। शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना आदि के कारण यदि समाधिरूपी कल्पवृक्ष का नाश करोगे तो ज्ञानादि गुण रूपी अक्षय निधान से रहित होते हुए संसार रूपी कर्दम में डूबोगे, इसलिये अपूर्व धैर्य को जागृत करो और अपने ग्रहण किये हुए इस व्रत का निरतिचार निस्तरण करो।

हे भव्य ! सुनो ! धर्मघोष मुनिराज ने सन्तोषामृत का पान करके किस प्रकार तृषा परीषह पर विजय प्राप्त की थी।

धर्मघोष मुनिराज की कथा :–

धर्ममूर्ति परम तपस्वी धर्मघोष मुनिराज एक माह के उपवास करके चम्पापुरी नगरी में पारणा के अर्थ गये थे। पारणा करके तपोवन की ओर लौटते हुए रास्ता भूल गये जिससे चलने में अधिक परिश्रम हुआ और उन्हें तृषा वेदना उत्पन्न हो गई। वे गंगा किनारे आकर एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गये। उन्हें प्यास से व्याकुल देख गंगादेवी पवित्र जल से भरा हुआ लोटा लाकर बोली–योगीराज ! मैं ठण्डा जल लाई हूँ आप इसे पीकर अपनी प्यास शांत कीजिए। मुनिराज ने जल तो ग्रहण नहीं किया और प्राणहरण करने वाली तृषा वेदना के मात्र ज्ञाता दृष्टा बनते हुए ध्यानारूढ़ हो गये। यह देख देवी चकित हुई और विदेह-क्षेत्र में जाकर प्रश्न किया कि जब मुनिराज प्यासे हैं, तब जल ग्रहण क्यों नहीं करते ? वहाँ गणधरदेव ने उत्तर दिया कि दिगम्बर साधु न तो असमय में भोजन-पान ग्रहण करते हैं और न देवों द्वारा दिया हुआ आहार आदि ही ग्रहण करते हैं। यह सुनकर देवी बहुत प्रभावित हुई और उसने मुनिराज को शान्ति प्राप्त कराने के हेतु उसके चारों ओर सुगन्धित और ठण्डे जल की वर्षा प्रारम्भ कर दी। यहाँ मुनिराज ने आत्मोत्थ अनुपम सुख के रसास्वाद द्वारा कर्मोत्पन्न तृषावेदना पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

भो ज्ञानिन् ! धर्मघोष मुनिराज के सदृश आपकी आत्मा भी सकल पदार्थों को जानने में समर्थ एवं ज्ञानमयी है, अमूर्तिक, अविनाशी, परमानन्द की भोक्ता और जगज्ज्येष्ठ है तथा हाड़, मांस एवं चर्ममयी, महादुर्गन्धित विनाशीक देह से अत्यन्त भिन्न है। कर्म के वश में वर्तमान में एकक्षेत्रावगाह हो रही है किन्तु यथार्थ में शरीर आदि से अत्यन्त भिन्न है। इसी शरीरादि के निमित्त से उत्पन्न होने वाली ये तृषा आदि वेदनाएँ भी आपके ज्ञायक स्वभाव का स्पर्श नहीं कर सकतीं अतः आप अपने अविनाशी ज्ञायक स्वभाव के अवलम्बन से इन क्षुद्र वेदनाओं, विषयों एवं कषायों पर विजय प्राप्त करते हुए, लक्ष्य की ओर अग्रसर होते चलो। चूको मत-यही कल्याण का मार्ग है।

भो मुने ! आपकी वैयावृत्य करने वाले इतने विज्ञ हैं कि शीतोष्ण आदि की बाधाओं

को आपके निकट आने ही नहीं देते, इस प्रकार आपको मात्र अपने संकल्पों-विकल्पों पर ही विजय प्राप्त करना है, किन्तु देखो ! श्रीदत्त मुनिराज ने किस प्रकार शीत परीषह को जीत कर मोक्ष प्राप्त किया।

श्रीदत्त मुनिराज की कथा :–

इलावर्धन नगरी के राजा का नाम जितशत्रु था। उनकी इला नामकी रानी थी, जिससे श्रीदत्त नामक पुत्र ने जन्म लिया। श्रीदत्तकुमार का विवाह अयोध्या के राजा अंशुमान की पुत्री अंशुमती से हुआ था। अंशुमती ने एक तोता पाल रखा था। चौपड़ आदि खेलते हुए जब राजा विजयी होता तब तो तोता एक रेखा खींचता और जब रानी जीतती थी तब तोता चालाकी से दो रेखाएँ खींच देता था। उसकी यह शरारत राजा ने दो चार-बार तो सहन करली, आखिर उसे गुस्सा आ गया और उसने तोते की गरदन मरोड़ दी। तोता मर कर व्यन्तर देव हुआ। श्रीदत्त राजा को एक दिन बादल की टुकड़ी को छिन्न-भिन्न होते देख कर वैराग्य हो गया और उन्होंने संसार-परिभ्रमण का अन्त करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण करली। अनेक प्रकार के कठोर तपश्चरण करते हुए और अनेक देशों में विहार करते हुए श्रीदत्त मुनिराज इलावर्धन नगरी में आये और नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान से खड़े हो गये। ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। उसी समय शुकचर व्यन्तरदेव ने पूर्व बैर के कारण मुनिराज पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया। वैसे ही ठण्ड का समय था और उस देव ने शरीर को छिन्न-भिन्न कर देने वाली खूब ठण्डी हवा चलाई, पानी बरसाया तथा खूब ओले गिराये। पर मुनिराज ने अपने धैर्य रूपी गर्भगृह में बैठकर तथा समता रूपी कपाट बन्द करके संयमादि गुणरत्नों को उस जल के प्रवाह में नहीं बहने दिया, उसके फलस्वरूप वे उसी समय केवलज्ञान को प्राप्त करते हुए मोक्ष पधारे।

भो आत्मसुखार्थी ! देखो ! जिस स्वात्मसिद्धि को सत्पुरुष चिरकाल तक घोर तपश्चरण से आत्मा को खेद प्राप्त कराकर प्राप्त कर पाते हैं, उसी आत्मसिद्धि को श्रीदत्त मुनिराज ने अल्प समय में ही आराधनाओं के प्रताप से प्राप्त कर लिया। इससे वह सिद्ध होता है कि क्षुधा, तृषा आदि की महावेदनाओं से, पराधीनता, दीनता, अपमान, इष्टवियोग एवं अनिष्टसंयोगजन्य महाक्लेशों से और जन्म-मरण आदि के भयंकर कष्टों से छुड़ाकर अविनाशी सुख में अवस्थित कराने वाला मात्र एक समाधिमरण ही है। यही परम उपकारी है। दुःखों की खान स्वरूप संसारावास में यही सच्चा शरण है, इसके बिना चारों गतियों में महात्रास है। यदि आप उस महात्रास से बचना चाहते हो तो विषय-कषायों का शमन कर तथा शरीर से विरक्त होकर ग्रहण किये हुए समाधिमरण से निस्तरण का पूर्ण प्रयत्न करो, जिससे आपकी दुर्गति न हो और धर्म एवं संघ का अपयश न हो।

भो योगिन् ! शीतल शय्या पर लेटे हुए आपको कोई बाह्य उपसर्ग आदि बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं हैं फिर भी आप उत्तम धर्मध्यान में अपने मन को नहीं लगा पा रहे हैं। देखिये !

वृषभसेन मुनिराज ने उष्णवेदना के कारणभूत भयंकर उपसर्ग में भी सल्लेखना के अवलम्बन से मोक्ष प्राप्त कर लिया।

वृषभसेन मुनिराज की कथा :–

उज्जैन के राजा प्रद्योत एक दिन हाथी पर बैठकर हाथी पकड़ने के लिये जंगल की ओर जा रहे थे। रास्ते में हाथी उन्मत्त हो उठा और इन्हें भगाकर बहुत दूर ले गया। राजा प्रद्योत एक वृक्ष की डाल पकड़ कर ज्यों-त्यों बचे। प्यास से व्याकुल चलते हुए ये खेट ग्राम के कुँए पर पहुँचे। उसी समय जल भरने के निमित्त आई हुई जिनपाल की पुत्री जिनदत्ता ने उन्हें जल पिलाया और पिता से जाकर सब समाचार कह दिये। "ये कोई महापुरुष हैं" ऐसा विचार कर जिनपाल उन्हें आदर-सत्कारपूर्वक अपने घर ले गया और जिनदत्ता के साथ उनकी शादी कर दी। जिनदत्ता को पट्टरानी के पद पर नियुक्त कर राजा सुख से रहने लगा। समय पाकर उन दोनों के वृषभसेन नाम का पुत्र हुआ। वृषभसेन जब आठ वर्ष के थे तब राजा प्रद्योत पुत्र को राज्यभार देकर दीक्षा लेना चाहते थे। पुत्र ने दीक्षा लेने का कारण पूछा–पिता ने कहा–बेटा ! राज्य का भोग भोगते हुए सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, उसके लिये तपश्चरण आवश्यक है। सच्चे सुख की बात सुनकर बहुत समझाये जाने पर भी पुत्र ने इन्द्रिय सुखों के कारणभूत राज्य को ग्रहण नहीं किया और पिता के साथ ही उसने भी जिनदीक्षा धारण कर ली।

वृषभसेन मुनिराज तपस्या करते हुए अकेले ही अनेक देशों में घूमते हुए कौशाम्बी नगर में आये और छोटी-सी पहाड़ी पर ठहर गये। गर्मी का समय था, धूप तेज पड़ रही थी। मुनिराज एक पवित्र शिला पर बैठ कर ध्यान करते थे। कड़ी धूप में इस प्रकार की योगसाधना तथा आत्मतेज से उनके शरीर का सौन्दर्य इतना देदीप्यमान हो उठा कि लोगों के हृदयों में उनकी श्रद्धा अति दृढ़ होती गई और जैनधर्म का प्रभाव वृद्धिंगत होने लगा। एक दिन मुनिराज जब शहर में भिक्षार्थ गये थे तब जैनधर्म के प्रभाव को सहन न कर सकने वाले बौद्ध बुद्धदास ने उस शिला को अग्नि से संतप्त करके लाल कर दिया। महाराजश्री जब आहार से लौटे तब उस शिला को अग्नि से तप्त देखा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञानुसार वे उसी शिला पर बैठ गये। उस समय आपने अपने भौतिक शरीर से मोह का परित्याग कर चारों आराधनाओं की शरण ली और भेदविज्ञान के बल से आठों कर्मों का नाश कर निर्वाणलाभ किया।

ये यतिवर ! जिस प्रकार भंयकर उपसर्ग को विजय कर लेने से शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी ने वृषभसेन मुनिराज का वरण कर लिया था, वैसे ही जैसे-जैसे तुम्हारे भूख, प्यास एवं संस्तर जन्य क्लेश वृद्धिंगत होते जाते हैं, वैसे ही वैसे असंख्यात कोटाकोटि भवों के संचित अशुभ कर्म नष्ट होते जाते हैं और तुम्हारे गुणों से आकृष्ट होकर मोक्षलक्ष्मी प्रतिदिन तुम्हारे निकट आती जाती है। ऐसा विचार करके तुम आत्मसाधना करने के लिए धैर्य धारण करो और संन्यास

धर्म की सिद्धि के लिए सर्व प्रकार की कायरता छोड़ो, क्योंकि धैर्य से ही सर्व-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

हे मुनिवर ! कर्म रूपी मगरमच्छों से भरे हुए संसार-समुद्र में त्रिभुवनविजयी कषायें ही भ्रमण करा रही हैं। ये कषायें अत्यन्त बलवान् और दुर्जेय हैं, अतः सल्लेखना की सिद्धि के लिये ये कषायें सदा कृश करने योग्य हैं। देखो ! कषाय के वशीभूत होकर चण्डवेग राजा ने (अपने पिता) मुनिराज अभयघोष पर कैसा प्राणघातक उपसर्ग किया।

अभयघोष मुनिराज की कथा :–

काकन्दीपुर में राजा अभयघोष राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम अभयमती था। इन दोनों में अत्यन्त प्रीति थी। एक दिन राजा अभयघोष घूमने जा रहे थे। रास्ते में इन्हें एक मल्लाह मिला जो जीवित कछुए के चारों पैर बांध कर लकड़ी में लटकाये हुए जा रहा था। राजा ने अज्ञानतावश तलवार से उसके चारों पैर काट दिये। कछुआ तड़फड़ाकर मर गया और अकामनिर्जरा के फल से उसी राजा के चण्डवेग नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन चन्द्रग्रहण देख कर राजा को वैराग्य हो गया। उसने पुत्र को राज्यभार सौंपकर दीक्षा धारण कर ली। वे कई वर्षों तक गुरु के समीप रहे। इसके बाद संसारसमुद्र से पर करने वाले और जन्म, जरा तथा मृत्यु को नष्ट करने वाले अपने गुरु महाराज से आज्ञा लेकर और उन्हें नमस्कार करके धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये। इसके कितने ही वर्षों बाद वे घूमते-2 काकन्दीपुर आये और वीरासन से स्थित होकर तपस्या करने लगे। इसी समय कछुआचर अनका पुत्र चण्डवेग वहाँ से आ निकला और पूर्व भव (कछुआ की पर्याय) की कषाय के संस्कार वश तीव्र क्रोधसे अन्धे होते हुए उस चण्डवेग ने उनके हाथपैर काट डाले और तीव्र कष्ट दिया। इस भयङ्कर उपसर्ग के आ जाने पर भी अभयघोष मनिराज मेरु सदृश निश्चल रहे और शुक्लध्यान के बल से अक्षयानन्त मोक्ष-लाभ किया।

भो आत्माराधक ! जब शरीर के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी अभयघोष मुनिराज ने अपने साम्य भाव का परित्याग नहीं किया तब उनके दुःख की तुलना में तो आपको कुछ भी कष्ट नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि क्षुधातृषा आदि से उत्पन्न होने वाली तीव्र वेदना के कारण आपका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका है। इस दशा में यदि यह कठोर शय्याजन्य कष्ट आपको हो रहा हो तो समता परिणामों से इसे सहन करना चाहिये और चारों आराधनाओं में अपने चित्त को रमाना चाहिए क्योंकि ये आराधनाएँ अति दुष्कर हैं, संसार के सर्व दुःखों का हरण करने वाली हैं, सुधर्म की जननी हैं, मुक्तिरमा की साधिका हैं, गुणों की खान हैं, तीर्थंकर के मुखारविन्द से प्रगट हुई हैं और मुनिवरों के द्वारा प्रीतिपूर्वक सेव्यमान हैं।

हे साधक ! यद्यपि आपके सर्वांग अत्यन्त कृश हो गये हैं, मात्र हाड़ और चाम ही

अवशेष रहा है, तथापि आत्मा के हितार्थ सत्त्व और साहस इन दो को उत्पन्न करो, क्योंकि इन दो गुणों के द्वारा ही आपके तप, संन्यास और संयम आदि की पूर्णता हो सकती है। विद्युच्चर मुनिराज ने सत्त्व और साहस के बल पर ही देवी द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग को जीत कर निर्वाण प्राप्त किया था।

विद्युच्चर मुनिराज की कथा :–

मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य में यमदण्ड नाम का कोतवाल और विद्युच्चर नाम का चोर था। विद्युच्चर चोरियाँ बहुत करता था पर अपनी चालाकी के कारण पकड़ा नहीं जाता था। वह दिन को कुष्ठी का रूप धारण कर किसी शून्य मन्दिर में गरीब बनकर रहता था और रात्रि में दिव्य मनुष्य का रूप धारण कर चोरी करता था। एक दिन उसने अपने दिव्य रूप से राजा को मोहित कर उनके देखते-देखते हार चुरा लिया। राजा ने कोतवाल को बुलाकर सात दिन के भीतर चोर को पकड़ लाने की आज्ञा दी। छह दिन व्यतीत हो जाने पर भी चोर नहीं पकड़ा गया, सातवें दिन देवी के सुनसान मन्दिर में एक कोढ़ी को पड़ा हुआ देखकर कोतवाल को उस पर सन्देह हुआ और उसने उसे बहुत अधिक मार लगाई परन्तु कोढ़ी ने अपने को चोर स्वीकार नहीं किया। तब राजा ने कहा–अच्छा, मैं तेरा सर्व अपराध क्षमा करता हूँ और अभय वचन देता हूँ, तू यथार्थ बात बतला दे। अभय की बात सुनते ही कोढ़ी रूपधारी विद्युच्चर बोला–महाराज ! मैं आभीर प्रान्त के अन्तर्गत वेनातट शहर के राजा जितशत्रु और रानी जयावती का विद्युच्चर नाम का पुत्र हूँ और यह यमदण्ड उसी राजा के यमपाश कोतवाल का पुत्र है। मैंने बचपन में विनोद के लिए चौर्यशास्त्र का अध्ययन किया था और अपने मित्र यमदंड से कहा था कि जहाँ आप कोतवाली करेंगे, वहीं मैं चोरी करूँगा। हम दोनों के पिता अपना-अपना कार्य-भार हम लोगों को सौंप कर दीक्षित हो गये। मेरे भय से यमदंड यहाँ भाग आया और अपनी बचपन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के उद्देश्य से मैंने भी यहाँ आकर चोरी का कार्य प्रारम्भ कर दिया। राजा विद्युच्चर की बात सुनकर राजा वामरथ बड़ा प्रसन्न हुआ। विद्युच्चर अपने मित्र यमदण्ड को लेकर अपने नगर चला गया, किन्तु उसे इस घटना से वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

संघ सहित विहार करते हुए विद्युच्चर मुनिराज ताम्रलिप्तपुरी की ओर आये। संघ सहित नगर में प्रवेश करने को ही थे कि वहाँ की चामुण्डा देवी ने कहा–योगीराज ! अभी मेरी पूजाविधि हो रही है, अतः आप भीतर मत जाइये। इस प्रकार रोके जाने पर भी महाराजश्री अपने शिष्यों के आग्रह से भीतर चले गये और परकोटे के पास की पवित्र भूमि देखकर बैठ गये तथा ध्यानारूढ़ हो गये। अपनी अवज्ञा जान कर देवी को क्रोध आ गया और उसने कबूतरों के आकार के खून पीने वाले डाँस मच्छरों की सृष्टि करके मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने यह उपसर्ग बड़ी शान्ति से सहन किया और अपने मन को चारों आराधनाओं में रमाते हुए मोक्षनगर के स्वामी बने।

हे क्षपक ! जिस प्रकार तत्त्वचिन्तन और शुक्लध्यान के बल से विद्युच्चर मुनिराज उपसर्गविजयी बने, उसी प्रकार शारीरिक और मानसिक दुःखों पर विजय प्राप्त करने के लिये आपको भी ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मैं देहस्वरूप नहीं हूँ। न मुझे कोई रोग है, न पीड़ा है और न मेरा मरण है। ये सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। मैं शरीर से भिन्न, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण, एक शुद्ध आत्मा हूँ, सुख ही मेरा स्वभाव है, जन्म-मरण मेरी अवस्थाएँ नहीं हैं। इस समाधिमरण और उत्तम ध्यान के अवलंबन से मैं भी अपनी आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर सकता हूँ, जिस प्रकार कोई म्यान से तलवार को पृथक् कर लेता है।

भो मुनिश्रेष्ठ ! मनुष्य का मन ही सर्व अनर्थों की जड़ है, जिन पुरुषों ने इस मन रूपी कलभ को ज्ञान रूपी सुदृढ़ साँकलों से नहीं बाँधा वे पुरुष दुःख भोगते हुए इस संसार रूपी अटवी में ही भटकते रहते हैं, किन्तु जो महापुरुष इस मन को वश में करने की कला सीख लेते हैं, उनके रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं और रागद्वेष नष्ट हो जाने से साम्य भाव की प्राप्ति हो जाती है, अतः हे क्षपक ! चिलाती मुनिराज के सदृश आप भी अपने मन रूपी वृक्ष में मोह रूपी जल का सिंचन करना बन्द कर दो ताकि यह फल देने में असमर्थ हो जाय और आपका कल्याण हो जाय।

चिलाती मुनिराज की कथा :–

राजगृह नगरी में राजा उपश्रेणिक राज्य करते थे। एक दिन वे घोड़े पर बैठकर घूमने गये। घोड़ा दुष्ट था। सो उसने उन्हें एक भयानक वन में जा छोड़ा। उस वन का मालिक यमदण्ड नाम का भील था। उसके एक तिलकवती नाम की सुन्दर कन्या थी। राजा ने उसकी माँग की। "इसका पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा" इस शर्त के साथ भील ने कन्या राजा को सौंप दी। उससे चिलातपुत्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अपने वचनानुसार राज्य का भार उसे सौंपकर दीक्षित हो गये। राजा बनते ही चिलातपुत्र प्रजा पर नाना प्रकार के अन्याय करने लगा। जब कुमार श्रेणिक ने यह बात सुनी तब उन्होंने अपने पौरुष से चिलातपुत्र को राज्य से बहिष्कृत करके पिता का राज्य संभाला, अर्थात् वे मगध के सम्राट् बन गये।

चिलातपुत्र मगध से निकलकर किसी वनी में जाकर बस गया और आस-पास के ग्रामों से जबरदस्ती कर वसूलकर उनका मालिक बन बैठा। उसका भर्तृमित्र नाम का एक मित्र था। भर्तृमित्र ने अपने मामा रुद्रदत्त से उनकी कन्या सुभद्रा चिलातपुत्र के लिए माँगी। रुद्रदत्त ने इसे स्वीकार नहीं किया, तब चिलातपुत्र ने विवाह-स्नान करती हुई सुभद्रा का हरण कर लिया। जब यह बात श्रेणिक ने सुनी तब वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा, श्रेणिक से अपनी रक्षा न होते देख चिलात ने उस कन्या को निर्दयतापूर्वक मार डाला और आप अपनी जान बचाकर वैभार पर्वत पर से भागा जा रहा था कि उसे वहाँ मुनियों का एक संघ दिखाई दिया। चिलातपुत्र संघाचार्य मुनिदत्त के पास आ पहुँचा और उसने उससे दीक्षा की याचना की। तेरी आयु अब मात्र आठ दिन की अवशेष रही है, ऐसा कहकर आचार्य ने उसे दीक्षा दे दी। दीक्षा

लेकर चिलात मुनिराज प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्मध्यान में लीन हो गये। सेना सहित पीछा करने वाले श्रेणिक ने जब उन्हें इस अवस्था में देखा तब वे बहुत आश्चर्यान्वित हुए और मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके राजगृह लौट आये। चिलातपुत्र ने जिस कन्या को मारा था वह मर कर व्यन्तर-देवी हुई और "इसने मुझे निर्दयतापूर्वक मारा था" इस बैर का बदला लेने हेतु वह चील का रूप ले चिलात मुनि के सिर पर बैठ गई। उसने उनकी दोनों आँखें निकाल लीं और सारे शरीर को छिन्न-भिन्न कर दिया जिससे उनके घावों में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये। इस प्रकार आठ दिन तक वह देवी उन्हें अनिर्वचनीय वेदना पहुँचाती रही, किन्तु मन इन्द्रियों और कषायों को वश में करने वाले मुनिराज अपने ध्यान से किंचित् भी विचलित न हुए तथा उन्होंने समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति की।

हे मुनिराज ! जब जीवन भर पाप करने वाले चिलातपुत्र ने बिना पूर्व अभ्यास के अपने मन रूपी हाथी को जीतकर अपनी आत्मा के निर्मल तत्त्व को प्रगट कर लिया था, तब हे क्षपक ! आपने तो अपने जीवन में उत्तम-उत्तम कार्य किये हैं, आप चिरकाल से संयम की साधना कर रहे हो, आपने संन्यास धारण कर मृत्यु का आह्वान किया है जिससे आपका यश पूर्णचन्द्र के समान सर्वत्र फैल रहा है। इस उत्तम मरण का अवसर प्राप्त करने वाले आप यथार्थ में पुण्यशाली हो। अब आपका अन्तिम पुरुषार्थ यही है कि आप अपने मनतुरङ्ग की लगाम दृढ़तापूर्वक पकड़कर रखें, जिससे आपके सभी परिश्रम सफल हो जावें।

भो मुनीश्वर ! जिस सल्लेखना को आपने आज तक कभी धारण नहीं किया था, उसे धारण करने का सुअवसर आपको आज प्राप्त हुआ है, अतः अब ऐसा पुरुषार्थ करो जिससे इस आत्महितकारी सल्लेखना में कोई दोष न आ पावे, आप परीषहों के कष्टों से मत घबड़ाओ, वे आपकी आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते। अपने पूर्व संचित कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करने के लिये आप सल्लेखनाजन्य कष्टों को उसी धीरता एवं सहनशीलता से सहन करो जिस प्रकार धन्य नाम के मुनिराज ने सहन किये थे।

धन्य मुनिराज की कथा :–

पूर्व विदेहक्षेत्र की प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक अत्यन्त लोभी था। वह धान्य की दाँय करते समय बैलों के मुख बँधवा दिया करता था जिससे वे अनाज न खा सकें और रसोईगृह में रसोई करने वाली स्त्रियों के स्तन बँधवा देता था ताकि उनके बच्चे दूध न पी पावें।

एक समय राजा अशोक के मुख में कोई भयङ्कर रोग हो गया। उसने उस रोग की औषधि बनवाई। वह उसे पीने ही वाला था कि इतने में उसी रोग से पीड़ित एक मुनिराज आहार के लिए इसी ओर आ निकले। राजा ने पथ्य सहित वह औषधि मुनिराज को पिला दी, जिससे उनका बारह वर्ष पुराना रोग ठीक हो गया। उस पुण्य के फल से राजा अमलकण्ठपुर

के राजा निष्ठसेन और रानी नन्दमती के धन्य नाम का पुत्र हुआ और समय पाकर उसने राज्यसिंहासन को सुशोभित किया। एक समय धन्य राजा भगवान् नेमिनाथ के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये गये थे, वहाँ उन्हें वैराग्य हो गया वे वहीं दीक्षित हो गये। पूर्व भव में जो पशुओं और बच्चों के भोजन में अन्तराय डाला था उस पापोदय से प्रतिदिन गोचरी को जाते हुए भी उन्हें लगातार नौ माह तक आहार का लाभ नहीं हुआ। अन्तिम दिन वे सौरीपुर के निकट यमुना के किनारे ध्यानस्थ हो गये। उस दिन वहाँ का राजा वन में शिकार खेलने आया, पर दिन भर में उसे कुछ भी हाथ न लगा। नगर को लौटते हुए राजा की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उन्हें देखते ही उसका क्रोध उबल पड़ा कि इसने ही आज अपशकुन किया है। प्रतिशोध की भावना से राजा ने मुनि के शरीर को तीक्ष्ण बाणों से बींध डाला। सैकड़ों बाणों के एक साथ प्रहार से मुनिराज का शरीर चलनी के सदृश जर्जरित हो गया और सारे शरीर से रक्त की धाराएँ फूट पड़ीं। मुनिराज ने उपसर्ग प्रारम्भ होते ही प्रायोपगमन संन्यास ग्रहण कर लिया और चारों आराधनाओं में संलग्न होते हुए अन्तःकृत केवली होकर मोक्ष पधारे।

भो योगिन् ! धन्य मुनिराज के सदृश जो भी भव्य जीव अन्तरंग और बाह्य सल्लेखना के द्वारा ज्ञान स्वभावी आत्मा का साधन करते हैं, वे वर्तमान पर्याय के विनाश से चिन्तित नहीं होते प्रत्युत् भावी पर्याय को सर्व सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनाने का पुरुषार्थ करते हैं, वे ही महान् आत्माएँ नश्वर शरीर के माध्यम से अविनश्वर सुख की प्राप्ति करते हैं, अतः आपको भी सल्लेखना व्रत में दूषण न लगाते हुए, परमोपकारी चारों आराधनाओं में अपने मन को स्थिर करना चाहिए।

विशेष :—पण्डित सूरचन्द कृत बड़े समाधिमरण में दण्डकनामा मुनि की बात कही गई हे। (दण्डकनामा मुनि की देही बाणन कर अरि छेदी) किन्तु भगवती आराधना गाथा १५५४ में धन्य मुनि का नाम आया है (धण्णो जउणावंकेण तिक्खकण्डेहि पूरिदंगो वि---)। बाणों से जिनका शरीर छेदा गया हो ऐसे दण्डक मुनि की कथा मेरे देखने में भी नहीं आई, अतः धन्य मुनि की कथा लिखी है।

भो मुने ! देखो-अभिनन्दन आदि पांच सौ मुनिराजों को घानी में पेल कर मारा गया था, क्या उसका शतांश दुःख देने वाला भी आज कोई हमारे समक्ष है ? नहीं। तब यह समझो कि हमें कोई कष्ट ही नहीं है। यदि इस तृण आदि के स्पर्श को ही हमारा मन दुःख मान रहा हो तो यथार्थ में हम क्या मुनि हैं ? क्या भेदविज्ञानी हैं ? क्या शरीरजन्य पीड़ा को स्व की पीड़ा मानने वालों के कर्मनिर्जरा हो सकती है ? क्या इस मोहजन्य परिणति के विद्यमान रहते हुए आत्मोत्थान हो सकता है ? नहीं, नहीं, कभी नहीं हो सकता, अतः हे आत्मसुखार्थी ! परिणति को मोड़ने का प्रयास करो। इसी से आपका यह सल्लेखनाजन्य श्रम सफल हो सकेगा।

अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराजों की कथा :–

दक्षिण भारत में स्थित कुम्भकारकट नगर के राजा का नाम दण्डक, रानी का नाम सुव्रता और राजमन्त्री का नाम बालक था। बालक मन्त्री जैनधर्म का विरोधी और अभिमानी था। एक समय उस नगर में अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराज पधारे। मन्त्री बालक उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये जा रहा था। मार्ग में उसे खण्डक नाम के मुनिराज मिले और वह उन्हीं से विवाद करने लगा। महाराजश्री के स्याद्वाद सिद्धान्त के सामने वह एक क्षण भी न टिक सका और लज्जित होता हुआ घर लौट गया, पर उसके हृदय में अपमान की आग धधकने लगी। उसकी शान्ति के लिये उसने एक भाँड को मुनि बना कर रानी सुव्रता के महल में भेज दिया और राजा को वहीं लाकर खड़ा कर दिया। उस मुनि-भेषी भाँड की कुत्सित क्रियाएँ देखकर राजा क्रोध से अन्धा हो गया और उसने उसी समय आदेश दे दिया कि नगर में जितने दिगम्बर साधु हों वे सब घानी में पेल दिये जायँ। मन्त्री तो यह चाहता ही था। उसने तत्काल सब मुनिराजों को घानी में पेल दिया। इस महान् दुःसह उपसर्ग को प्राप्त होकर भी मुनि समूह अपने साम्य भाव से नहीं चिगा और शुक्लध्यान के अवलम्बन से अष्ट कर्मों को नष्ट कर सबने मोक्ष रमा का वरण किया।

भो क्षपक ! कल्पना करो कि उन उपसर्ग प्राप्त मुनि समूह में मैं भी सम्मिलित हूँ, एक-एक साधु घानी में डाला जा रहा है, ४९९ साधु पेले जा चुके हैं, जिनके रक्त से खून की नदी बह रही है, पर्वत बराबर हड्डियों का ढेर सामने दिखाई दे रहा है, चारों ओर जनता त्राहि-त्राहि कर रही है, फिर भी कोई रक्षा नहीं कर सकता। अपने परमोपकारी आचार्यादि को नेत्रों के समक्ष इस प्रकार की हृदयविदारक दशा को प्राप्त होते देखकर भी मुझे अपने साम्य भाव को ज्यों-का-त्यों स्थिर रखना है, चारों आराधनाओं से विचलित नहीं होना है, केवल इतना ही नहीं, अब घानी में डाले जाने की अन्तिम बारी मेरी है, मैं स्वयं अब पेला जाने वाला हूँ, इतना ही नहीं अब देखो–कि मैं उसमें डाल ही दिया गया हूँ और पिस रहा हूँ, फिर भी निर्लेप हूँ, निर्विकार हूँ, निर्विकल्प हूँ, और अपने आप अपने ही शान्त रस में निमग्न हूँ, क्योंकि मेरे लिये तो जैसे अन्य मुनिराज मुझ से भिन्न थे वैसे मेरा शरीर भी मुझ से भिन्न है। जैसे अन्य मुनिराजों के छिन्न-भिन्न किये जाने पर मुझे कष्ट नहीं हुआ, वैसे मेरे ज्ञायक स्वभाव से भिन्न इस शरीर के छिन्न-भिन्न किये जाने पर भी मुझे कोई कष्ट नहीं है।

हे साधो ! इस प्रकार के चिन्तन से आत्मदृढ़ता बढ़ती है और शरीर से मोह छूटता है, अतः भेदविज्ञान की भावना अवश्य भाते रहना चाहिये।

भो महात्मन् ! पाँच सौ शिष्यों के साथ चाणक्य मुनिराज को घेरे में डाल कर आग लगा दी गई फिर भी वे आत्मध्यान से विचलित नहीं हुए क्योंकि वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसा उत्कृष्ट साहस करने में समर्थ होते हैं। जिसके भय से विचलित होकर तीनों लोकों के प्राणी मार्ग छोड़ देते हैं ऐसे वज्र के पड़ने पर भी वे स्वाभाविक निर्भयता से सभी प्रकार

की शङ्काओं को छोड़कर स्वयं अपने आपको अखण्ड ज्ञानमय जानते हुए आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होते।

चाणक्य मुनिराज की कथा :–

पाटलिपुत्र नगर के राजा नन्द के कवि, सुबन्धु और शकटाल नाम के तीन मन्त्री थे। वहीं निवास करने वाले कपिल पुरोहित की देविला नाम की भार्या से चाणक्य नाम का पुत्र हुआ जो अत्यन्त बुद्धिमान् और वेदों का पारगामी विद्वान् था। एक समय कवि मन्त्री ने राजा से कहा–देव ! आप पर शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी है। राजा ने कह दिया, द्रव्य देकर उन्हें लौटा दो। कवि मन्त्री ने वैसा ही किया। एक समय नन्द को द्रव्य की आवश्यकता पड़ी। उसने खजाञ्ची से पूछा–खजाने में धन कितना है ? खजाञ्ची ने कह दिया कि बहुत थोड़ा है क्योंकि मन्त्री ने शत्रुओं को दे दिया था। यह सुनते ही राजा को क्रोध आ गया और उसने सपरिवार कवि मन्त्री को एक अन्धकूप में डाल दिया। सकोरे में रस्सी बाँधकर दिन में मात्र एक बार अति अल्प अन्न-जल उसके पास भेजा जाता था। नन्द वंश का नाश करने के प्रयोजन से वह अन्न-जल मन्त्री के द्वारा ही ग्रहण किया जाता था, उसका सारा कुटुम्ब भूख-प्यास से व्याकुल होते हुए मरण को प्राप्त हो गया। तीन वर्ष बाद नन्द राजा पर शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी तब राजा को कवि मन्त्री की स्मृति आई। उसे अन्धकूप से निकाला गया। कवि मन्त्री नन्दवंश के विनाश की सामर्थ्य रखने वाले मनुष्य को निरन्तर खोजता रहता था। एक दिन उसने पैर को पीड़ा देने वाली दर्भ को जड़ से उखाड़ते हुए चाणक्य को देखा और विचार किया कि यही व्यक्ति नन्दवंश का नाश कर सकता है। एक दिन भोजन के लिये अग्र आसन पर बैठे हुए चाणक्य को गर्दन पकड़ कर कवि मन्त्री ने बाहर निकाल दिया और बोला–कि इसमें मेरा कोई अपराध नहीं, मुझे तो यह कार्य राजा की आज्ञा से करना पड़ा है। चाणक्य इस अपमान को न सह सका। उसने शक्तिसंचय करके राजा को मार डाला तथा स्वयं ने बहुत काल तक राज्य किया।

एक समय राजा चाणक्य ने महीधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली। कुछ ही दिनों बाद उन्हें आचार्य पद मिल गया और ये पाँच सौ शिष्यों के साथ वनवास देश के क्रौञ्चपुर नगर में आकर ठहर गये। अपनी अल्प आयु जानकर चाणक्य ने वहीं प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया।

राजा नन्द का दूसरा मन्त्री सुबन्धु था, जो राजा की मृत्यु के बाद क्रौंचपुर के राजा सुमित्र का मन्त्री हो गया था। सुबन्धु मिथ्यादृष्टि था और उसे राजा का नाश करने वाले चाणक्य पर क्रोध भी बहुत था, अतः चाणक्य से बदला लेने के अभिप्राय से उसने मुनिराजों के चारों ओर खूब घास एकत्र करवाकर आग लगवा दी। चाणक्य सहित समस्त मुनिराजों ने सहनशीलतापूर्वक उपसर्ग सहन किया और शुक्लध्यान रूपी आत्मशक्ति से कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया।

हे क्षपकराज ! चाणक्य आदि पाँच सौ मुनिराजों ने अपने चित्त को ध्यान में उसी प्रकार विलीन कर दिया था जिस प्रकार नमक की डली पानी में विलीन हो जाती है, इसीलिये वे शुभ-अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मा रूपी अग्नि प्रकट कर सके। आत्मकल्याण के लिए आपको भी आर्त्तरौद्रध्यान का परित्याग करके अपने चित्त को उत्तम धर्मध्यान में लगाना चाहिए।

अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराजों पर बलि ब्राह्मण के द्वारा हस्तिनापुर में घोर उपसर्ग किया गया था। रक्षाबन्धन पर्व से सम्बन्ध रखने वाली यह कथा सर्वविदित है, अतः यहाँ नहीं लिखी जा रही है।

हे मुनिवर ! आज कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले क्षुधातृषा आदि के अल्प से ताप भी हमसे शान्तिपूर्वक सहन नहीं किये जाते किन्तु विचार करके देखो—कि पाण्डवों ने अनशनादि तपों से उत्पन्न होने वाले अंतरङ्ग ताप को और जाज्वल्यमान आभूषणों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली बहिरङ्ग दाह को कैसे सहन किया होगा ?

पाण्डवों की कथा :—

पूर्वोपार्जित महान् पुण्य के प्रभाव से दुर्जेय दुर्योधनादि तथा अन्य शत्रुओं को जीतकर पाण्डव दक्षिण मथुरा में राज्य करते थे। किसी समय नेमिनाथ भगवान् के निर्वाण का समाचार सुनकर उन पाँचों को वैराग्य हो गया और वे अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार देकर दीक्षित हो गये। चिरकाल तक तीव्र तप करते हुए वे शत्रुञ्जय पर्वत पर पहुँचे और प्रतिमायोग से इस प्रकार स्थित हो गये मानो शिला में ही उकेरे गये हों। दुर्योधन के गोत्रोत्पन्न कुछ राजकुमारों ने जब यह समाचार सुना तब पूर्व बैर का स्मरण कर वे वहाँ आये और मुकुट, कुण्डल, हार, बाजूबन्द तथा कड़े आदि लोहे के आभूषणों को अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में तपाकर पाण्डवों के अंगों में पहिना कर तथा उन्हें लोहे के तप्त आसनों पर बैठाकर घोर उपसर्ग किया। इस भयङ्कर वेदना को अपने ही कर्मोदय का दुर्निवार फल मानते हुए तथा कर्मों से भिन्न ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से अभिन्न अपनी-अपनी आत्मा का अत्यधिक चिन्तन करते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पाण्डव तो शुक्लध्यान के अवलम्बन से चार घातिया कर्मों का नाश कर अंतःकृत केवली बने और शेष कर्मों का नाश करते हुए उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया तथा नकुल और सहदेव ये दो पाण्डव उत्कृष्ट धर्मध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि गये।

हे योगिन् ! यह संसार एक विशाल समुद्र के सदृश है क्योंकि यह भयङ्कर दुःखसमूह रूपी जल से भरा है, दुर्गति रूपी बड़वानल से भयङ्कर है, दुःसाध्य रोग रूपी मगरमच्छों से व्याप्त है, क्रोध रूपी विशाल वृक्षों से युक्त है, अत्यन्त क्रूर अहंकार रूपी नक्रों के समूह से दुर्लंघ्य है, माया रूपी जलचर जीवों से भरा हुआ है, उभरती हुई लोभ रूपी शैवाल से मलिन है और रागद्वेष रूपी लहरों से संयुक्त है, अतः इसका किनारा प्राप्त करना कठिन है। पाण्डवों

के सदृश आराधना रूपी नाव पर बैठकर क्षपक ही इसे पार करने में समर्थ होते हैं, अतः हे क्षपक ! आपको भी इन चारों आराधनाओं का भली प्रकार आराधन करना चाहिये।

विशेष—पं० सूरचन्द्र कृत बड़े समाधिमरण के क्रमानुसार पाँचवे क्रम पर गंगा नदी में डूबने वाले श्रेणिक सुत (श्रेणिक सुत गंगा में डूबो) की बात कही गई है किन्तु यह कथा बहुत खोज करने पर भी नहीं मिली।

णावाए णिब्बुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो।। १५४३।।

भगवती आराधना की इस गाथा के "एणियापुत्तो" पद से ऐसा ज्ञात होता है कि इसी का रूपान्तर बिगड़ते-बिगड़ते हिन्दी में एणिकपुत्र के स्थान पर श्रेणिक सुत प्रचलित हो गया है। अतः यहाँ पर इसी गाथा के आधार से एणिक पुत्र पणिक मुनिराज की कथा लिखी जा रही है।

पणिक मुनिराज की कथा :–

पणीश्वर नामक नगर में राजा प्रजापाल राज्य करते थे। वहाँ एक सागरदत्त सेठ अपनी पणिका नाम की स्त्री के साथ आनन्द से रह रहा था। उन दोनों के एक पणिक नाम का पुत्र था जो सरल, शान्त और पवित्र हृदय का था। एक दिन पणिक भगवान् के समवसरण में गया। वहाँ उसने गंधकुटी में स्थित वर्द्धमान स्वामी का दिव्य स्वरूप देखा, जिससे उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे। भगवान् की स्तुति और पूजन आदि कर चुकने के बाद पणिक ने धर्मोपदेश सुना और अपनी आयु के विषय में प्रश्न भी किया, अपनी अल्प आयु जानकर वह वहीं दीक्षित हो गया। दीक्षा लेकर पणिक मुनिराज अनेक देशों में विहार करते हुए गंगा किनारे आये और गंगा पार करने के लिय एक नाव में बैठे। मल्लाह सुचारुरीत्या नाव खे रहा था कि अचानक भयङ्कर आँधी आई, नाव डगमगाने लगी, उसमें पानी भर गया, फलस्वरूप नाव डूबने ही वाली थी कि पणिक मुनिराज विशेष आत्मविशुद्धि के साथ शुक्लध्यान में लीन हो गये और केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ ही साथ मोक्ष प्राप्त कर लिया।

हे कल्याणार्थी ! पणिक मुनिराज के समान आपको भी रागद्वेष को भेदकर, विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों को छेदकर और शारीरिक कष्टों को नगण्य गिनते हुए स्वकीय आत्मा का और पंच परमेष्ठियों का ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार आगम में विख्यात और भी अनेक मुनिराज उपसर्ग को प्राप्त हुए हैं, जो उस तीव्र वेदना में भी अन्य की सहायता से रहित, एकाकी थे, जिनकी वेदना का कोई उपचार नहीं था, कोई वैयावृत्त्य करने वाला नहीं था, कोई उपदेशदाता नहीं था, और कोई सान्त्वना देने वाला भी नहीं था। जो पूर्व भव के बैरियों द्वारा अग्नि में दग्ध किये गये, शस्त्रों से विदारे

गये, जल में डुबोये गये, पर्वतों से गिराये गये, बाणों से छेदे गये, आहार आदि से वंचित किये गये और गड्ढे आदि में डाले गये, तो भी अपने साम्य भाव से विचलित नहीं हुए उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा, वे प्राण रहित हो गये किन्तु उन्होंने आराधनाओं में शिथिलता नहीं आने दी। फिर आपके पास तो रत्नत्रय से विभूषित आचार्य आदि उपदेश देने वाले हैं, दयावान् अनेक साधु वैयावृत्त्य करने में तत्पर हैं, यथायोग्य उपचार किये जा रहे हैं और सर्वसंघ आपके रत्नत्रय आदि गुणरत्नों की सुरक्षा में सतर्क है। आप पर कोई उपसर्ग आदि का भी कष्ट नहीं है तथा और अन्य सर्व बाह्य साधन भी अनुकूल हैं, अतः आपको अपनी आराधनाओं में शिथिल नहीं होना चाहिए, कायरता छोड़नी चाहिए, अपने आपको सँभालना चाहिए तथा देव, शास्त्र, गुरु और सर्व संघ की साक्षीपूर्वक ग्रहण किये हुए इस सल्लेखना रूपी महान् व्रत का उत्साहपूर्वक निर्वाह करना चाहिए।

निर्यापकाचार्य द्वारा क्षपक को सल्लेखनाजन्य अतिचारों के त्याग का उपदेश :–

हे उपासक ! सम्यग्दर्शनादि गुणों से सम्पन्न गुणवानों के द्वारा आचर्यमाण इस सल्लेखना की प्राप्ति तुम्हें अनादिकाल से अभी तक नहीं हुई थी। समुद्र में गिरी हुई राई की प्राप्ति के सदृश महान् पुण्योदय से इस भव में इसकी प्राप्ति हुई है, अतएव अतिचार रूपी पिशाचों से इस दुष्प्राप्य समाधिमरण की रक्षा करो। ये अतिचार पाँच प्रकार के हैं–

जीवितासंशा :–

हे क्षपकराज ! प्रत्यक्ष में सुखानुभव कराने वाली, आचार्य आदि के द्वारा की गई इस परिचर्या में तथा लोकपूजादि में आसक्त होकर जीवन को स्थिर बनाये रखने की इच्छा मत करो, क्योंकि ये सब वस्तुएँ भ्रान्ति से रम्य प्रतिभासित होती हैं। यथार्थ में विचार करने पर कदली तरु के सदृश असार हैं। जीवन की इच्छा करने से इस लोक में हास्य का पात्र बनना पड़ता है, और परलोक भी बिगड़ता है। इसीलिये प्रयत्नपूर्वक अपनी आत्मा को इस अतिचार से बचाओ।

मरणाशंसा :–

हे नरोत्तम ! दुःसह क्षुधादि की वेदना के भय से शीघ्र मरने की इच्छा भी मत करो, क्योंकि इस वेदना से अनन्तगुणी वेदना तुम अनन्तभवों में भोग चुके हो, किन्तु वे सब परवशतापूर्वक तथा संक्लेश परिणामों से भोगी हैं, अतः कर्मक्षय का कारण न होकर संसार का ही कारण बनीं। इस शुभ अवसर पर बुद्धिपूर्वक आमन्त्रित की हुई इन वेदनाओं को यदि साम्य परिणामों से सहन कर लोगे तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्मों का नाश होगा और नवीन आस्रव का निरोध होगा, किन्तु यदि आपके हृदय में शीघ्रमरण की इच्छा बनी रही तो आप आत्मघाती होते हुए दीर्घ संसारी होंगे, इसलिये आपको अपने हृदय से शीघ्रमरण की इच्छा का परिहार कर देना चाहिये।

मित्रानुराग :–

हे आराधक ! बाल्यावस्था में एक साथ धूल में खेलने वाले अपने मित्रों की स्मृति मत करो, उनसे स्नेह मत करो और उनसे मिलने की अभिलाषा मत करो अर्थात् अपनी आत्मा को मित्रों के साथ अनुरञ्जित मत करो। पूर्व में अनेक बार अनुभव में आये हुए और मोह कर्म के विपाक से दुर्ललित ऐसे मित्रानुराग से परलोक की यात्रा में उद्यत होने वाले तुम क्षपक को क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

सुखानुबन्ध :–

हे उपासक ! इस समय तुम गृहस्थावस्था में अनुभूत पञ्चेन्द्रियों के विषयों में से किसी भी विषय का अनुराग मत करो। मेरी इस प्रकार की सुन्दर स्त्री थी, सुन्दर शय्या थी तथा मैंने अतिमनोज्ञ भोगों को भोगा था ऐसा चिन्तन भी मत करो, क्योंकि पञ्चेन्द्रियों के सुखों के द्वारा आकृष्ट हुआ प्राणी अनन्तकाल तक संसार रूपी वनी में परिभ्रमण करता रहता है।

निदान :–

हे क्षपकराज ! ज्वर आदि रोग, व्याधि, इष्टवियोग और शोक आदि के समान भविष्यत् काल में अत्यन्त दुःख देने वाले चक्रवर्ती आदि के भोगों की वाञ्छा मत करो अर्थात् इस तप के माहात्म्य से मैं इंद्र, धरणेन्द्र आदि के पद प्राप्त करूँ ऐसी भावना हृदय में उत्पन्न मत होने दो क्योंकि ऐसा कौन मनुष्य है जो इच्छित वरदान को देने वाले इष्टदेव की आराधना करके कालकूट विष की प्रार्थना करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा।

निर्यापकाचार्य का अन्तिम कर्तव्य :–

इस प्रकार उपदेश सुनाते हुए जब क्षपक की शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाय; उठने, बैठने एवं बोलने आदि की भी शक्ति न रहे तब केवल आत्मचिन्तन अथवा पंचपरमेष्ठियों के चिन्तन में क्षपक के उपयोग को लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके बाद जब क्षपक के प्राणों का अन्त होने को हो तब से मृत्यु होने तक मधुर वाणी में धीरे-धीरे कानों में णमोकार मन्त्र सुनाते रहना चाहिये।

समाधिमरण का फल :–

यदि तद्भवमोक्षगामी जीव समाधिक की साधना करता है तो समाधिमरण का साक्षात् फल तो मोक्ष है क्योंकि उत्कृष्ट आराधना का फल मोक्ष ही है। यदि मध्यम आराधना की साधना की तो जीव तीसरे भव में कर्मरज से रहित होकर मुक्ति प्राप्त करता है और यदि जघन्य आराधना की साधना हुई तो वह जीव सातवें भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

लोक में जितने भी सारभूत पद हैं, सुख व अभ्युदय के स्थान हैं अर्थात् देवेन्द्र का वैभव, चक्रवर्ती की सम्पदा, स्वर्गीय ऋद्धियाँ, सर्वार्थसिद्धि के सुख और लौकान्तिक देवों का ब्रह्मर्षि पद, ये सब स्थान चार आराधनाओं से प्राप्त होते हैं। संस्तरगत सर्वक्षपकों की आराधना एक सदृश नहीं होती, क्योंकि अन्त समय में क्षपक का जैसा परिणाम रहता है वैसी ही आराधना कहलाती है।

जो मुनि या श्रावक समाधिमरण की इस साधना में मन-वचन-काय से सहयोग देते हैं, समाधि के समय उपस्थित होकर आचार्य का उपदेश सुनते हैं, आराधना के समय क्षपक की सेवा करते हैं, उसकी भक्ति एवं वन्दना करते हैं, वे सभी जीव नियम से चार आराधनाओं को प्राप्त कर अपना जन्म सफल करते हैं।

क्षपक जहाँ आराधनाओं की साधना करता है वह वसतिका स्थान कहलाता है और जहाँ उसके शरीर की अन्तिम क्रिया होती है वह निषीधिका स्थान कहलाता है, ये दोनों स्थान तीर्थ बन जाते हैं। इन स्थानों की वन्दना से भी आत्मा पवित्र होती है।

क्षपक के शव को क्षेपण करने का स्थान :–

निषीधिका स्थान नगरादि से न अति दूर हो, न अति समीप हो, एकान्त हो, प्रकाशयुक्त हो, विस्तीर्ण हो, मर्दन किया हुआ हो, अत्यन्त कठोर तथा अत्यन्त अपवित्र न हो, बिलादि से रहित हो, बहुत ऊँचा या बहुत नीचा न हो, अति सचिक्कण न हो, रजरहित, जीवरहित और बाधारहित हो।

किस दिशा में हो ?

क्षपक की वसतिका से निषीधिका स्थान नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशा में होना चाहिए, क्योंकि इन तीनों दिशाओं की निषीधिका प्रशंसा योग्य है।

प्रत्येक दिशा की निषीधिका का फल :–

नैऋत्य दिशा की निषीधिका से सर्व संघ को आराधनाओं का लाभ और हित होता है। दक्षिण की निषीधिका से आहार की सुलभता, पश्चिम की निषीधिका से विहार सुखपूर्वक होता है और पीछी, कमण्डलु एवं शास्त्र आदि का लाभ होता है। पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा की निषीधिका से तू ऐसा, मैं ऐसा, वह ऐसा इत्यादि रूप से स्पर्धा (ईर्षा) होती है। पश्चिमोत्तर (वायव्य दिशा से संघ में कलह, पूर्व दिशा से संघ में फूट (संघ का छिन्न-भिन्न होना), उत्तर दिशा से संघ में व्याधि अर्थात, रोग होते हैं और पूर्वोत्तर (ईशान) दिशा की निषीधिका से संघ में पक्षपात बढ़ता है, परस्पर खींचातानी होती है और प्रथमतः एक मुनि का मरण भी हो जाता है।

समाधिमरण के उपरान्त क्या करें ?

जिस समय क्षपक का प्राणान्त हो उसी समय उसके शव को वैयावृत्य करने वाले मुनिजन स्वयमेव ले जाकर किसी पर्वत के समीप अथवा नदीतट आदि पर प्रासुक स्थान देखकर छोड़ देवें। यदि अकाल (रात्रि) में मरण हो तो बाल, वृद्ध, शिक्षक, बहु तपस्वी, कायर स्वभावी, रोगी, वेदना आदि से दुःखी मुनि एवं आचार्य को छोड़ कर धीर, वीर एवं निद्राविजयी साधु क्षपक के समीप रहकर जागरण करें और कोई महान् आत्मवीर्य के धारक मुनिराज क्षपक के हाथ या पैर के अंगुष्ठ का छेदन करें या बाँध दे। यदि छेदन-बन्धन की क्रिया न की जायगी तो धर्मद्रोही अथवा कौतुकस्वभावी व्यन्तरादि देव मृतक शरीर में प्रवेश करके उठेगा, भागेगा तथा और भी अन्य प्रकार की क्रीड़ाएँ करेगा, अथवा संघ में बाधा उत्पन्न कर देगा जिससे नवीन दीक्षित मुनि, कायर स्वभावी एवं मन्दज्ञानी मुनिराजों के परिणाम दर्शन, ज्ञान और चारित्र में शिथिल हो जायेंगे जिससे बड़ा अनर्थ हो जाएगा अथवा धर्म में उपद्रव खड़ा हो जाएगा अतः जागरण, बन्धन और छेदन की क्रियाएँ अवश्य करनी चाहिए।

क्षपक के शवक्षेपण का विधान :–

जिन मुनिराजों का मरण पर्वत, नदी के तट, वृक्षों की कोटर और जंगल आदि में हो जाता है, उनका शव तो पवन आदि से सूख जाता है अथवा पशु-पक्षी भक्षण कर जाते हैं किन्तु जो मुनि भक्तप्रत्याख्यान को अंगीकार करके मरण को प्राप्त हुए हैं तथा जिनकी समाधि सर्वविदित होती है ऐसे मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, उत्तम श्रावक तथा मठपति (भट्टारक) के शव को गृहस्थ द्वारा बनवाई हुई शिविका या पालकी में स्थापित कर ग्राम के बाहर ले जाना चाहिए।

गृहस्थों को शिविका में क्षपक के शव को स्थापित कर दृढ़ बन्धनों से बाँध लेना चाहिए ताकि वह उछल न सके। शव का मस्तक ग्राम की ओर हो अथवा पीठ ग्राम की ओर हो। पूर्व से निश्चित किये हुए स्थान पर, निश्चित मार्ग से शव को शीघ्रतापूर्वक ले जाना चाहिए। मार्ग में न खड़े होना चाहिए और न पीछे मुड़कर देखना चाहिए। शव के आगे एक गृहस्थ मुट्ठी में कुशदर्भ लेकर चले (एक गृहस्थ कमण्डलु को जल से पूर्ण करके तथा उसकी नलिका आगे करके जल की पतली-पतली धारा छोड़ते हुए आगे-आगे चले। अग्नि ले जाने का भी विधान कहीं-कहीं पर है) वह भी पीछे मुड़कर न देखे और न मार्ग में रुके तथा पूर्व में देखी हुई निषीधिका पर डाभ की मूठी खोलकर मुनि के देह को स्थापन करने की भूमि विच्छेद रहित सम करे, यदि डाभ या तृण न मिले तो ईंटों के चूर्ण अथवा वृक्षों की शुष्क केशर से संस्तर को सर्वत्र सम करे।

विषम संस्तर का फल :–

यदि संस्तर ऊपर की ओर ऊँचा-नीचा होगा तो संघ के आचार्य का मरण होगा या रोग होगा। यदि मध्य में विषम होगा तो संघ के किसी प्रधान मुनि का मरण होगा या रोग होगा और यदि नीचे की ओर विषम होगा तो किसी मुनि का मरण होगा या रोग होगा। (भगवती आ० गा० ८२)

[संस्तर को सम बनाकर यदि दर्भ न मिले तो प्रासुक तन्दुल एवं मसूर की दाल आदि का चूर्ण तथा कमल केशर आदि के द्वारा मस्तक[1] से लेकर पैर तक समान अर्थात् टूटी या टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ न हों ऐसी बनावे। यदि ऊपर की रेखा विषम होगी तो आचार्य का मरण होगा या व्याधि होगी। मध्य की रेखा विषम या टूटी हुई होगी तो एलाचार्य का मरण होगा या व्याधि होगी और यदि नीचे की रेखा विषम या टूटी हुई होगी तो सामान्ययति का मरण होगा या व्याधि होगी। (मूलाराधना अध्याय ७ गा० १९८४-८५)

जिस दिशा में ग्राम हो उस दिशा में क्षपक का मस्तक करके देह स्थापित करनी चाहिये। मृतक के निकट मयूरपिच्छिकादि उपकरण भी स्थापित कर देने चाहिए, क्योंकि यदि कोई क्षपक अन्त में संक्लेश परिणामों द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करके व्यन्तर आदि देवों में उत्पन्न हुआ हो तो पीछी सहित अपने शरीर को देखकर "मैं पूर्वभव में मुनि था" यह जान सकेगा और पुनः धर्म में दृढ़ श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि हो जाएगा।

आराधनायुक्त क्षपक के मरण से संघ पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह जानने के लिये किस नक्षत्र में मरण हुआ है यह जानना आवश्यक है। जो नक्षत्र पन्द्रह मुहूर्त के होते हैं उन्हें जघन्य नक्षत्र कहते हैं, ये ६ होते हैं –शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा। इनमें से किसी एक नक्षत्र में या उसके अंश पर मरण होने से संघ में क्षेमकुशल होता है।

---

१. संस्तर को सम बनाकर चारों ओर चार खूँटी गाड़ें और उनके आधार से संस्तर को मौली या लच्छा से तीन बार वेष्टित करें। पद्मासन से शव को सिर से पैर तक सुतली द्वारा माप कर उसी माप के प्रमाण संस्तर पर तीन रेखाओं द्वारा एक त्रिकोण बनावें। सर्वप्रथम भूमि पर चन्दन का चूरा डालें फिर रोली से त्रिकोण रूप तीनों रेखाएँ (टूटी एवं विषम न हों) डाले, उसके बाद उस त्रिकोण के ऊपर सर्वत्र मसूर का आटा डालें। त्रिकोण के तीनों कोनों पर तीन उल्टे स्वास्तिक बनावें और तीनों रेखाओं के ऊपर तीनों ओर सब मिलाकर नौ, सात या पांच रँ लिखें। त्रिकोण के मध्य में ॐ ह्रीं अर्हं लिखें फिर ॐ ह्रीं ह्रः काष्ठसञ्चयं करोमि स्वाहा इस मन्त्र को पढ़कर त्रिकोणाकार ही लकड़ी जमावें, पश्चात् [ॐ ह्रीं ह्रौं ह्रौं अ सि आ उ सा काष्ठे शवं स्थापयामि स्वाहा। इति मन्त्रेण पञ्चामृतरभिषिञ्चय त्रिःप्रदक्षिणां कृत्वा काष्ठे शवं स्थापयेयुः । (सोमसेन भट्टारक)] मन्त्र का उच्चारण करते हुए पश्चातानुपूर्वी से शव का पञ्चामृत अभिषेक करके एवं तीन प्रदक्षिणा देकर शव को काष्ठ पर स्थापित करें और ॐ ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं अग्निसंधुक्षणां करोमि स्वाहा, यह मन्त्र बोलकर अग्नि लगावें।

तीस मुहूर्त के नक्षत्र को मध्यम नक्षत्र कहते हैं, ये १५ होते हैं—अश्वनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, तीनों पूर्वा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, श्रवण, धनिष्ठा और रेवती। इन नक्षत्रों में या इनके अंशों पर यदि क्षपक का मरण होगा तो एक मुनि का मरण और होगा।

पैंतालीस मुहूर्त के नक्षत्रों को उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं। ये छह होते हैं—तीनों उत्तरा, पुनर्वसु, रोहणी और विशाखा, इन नक्षत्रों पर या इनके अंशों पर मरण होने से निकट भविष्य में दो मुनियों का मरण होता है। (मूलाराधना अध्याय ७, गा० १९८९)

गणरक्षा के हेतु मध्यम नक्षत्र का मरण होने पर तृण का एक प्रतिबिम्ब और उत्तम नक्षत्र में मरण होने पर तृण के दो प्रतिबिम्बों का मृतक के निकट द्वितीयोऽर्पितः यह कहकर स्थापन कर देना चाहिये। यदि पीछी कमण्डलु वहाँ उपलब्ध हों तो सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखन करके उन सहित ही प्रतिबिम्बों का स्थापन करना चाहिये। प्रतिबिम्ब बनाने के लिये यदि वहाँ तृण न मिले तो तन्दुलों का चूर्ण, पुष्प की केशर, भस्म अथवा ईंटों के चूर्ण में से जो कुछ प्राप्त हो सके उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार अर्थात् "काय" शब्द लिख देना चाहिये और यदि वहाँ पीछी कमण्डलु हों तो वे भी स्थापित कर देने चाहिये। संघ की शान्ति के लिये यह कार्य अवश्य करना चाहिए।

शंका :—

क्या उपर्युक्त क्रिया करने से संकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता ?

समाधान :—

तृणमय पिण्ड में मृतक मुनि की स्थापना की जाती है, अतः संकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता। अभिप्राय यह है कि एक साथ दो शवों का एवं तीन शवों का दाह संस्कार किया जा रहा है।

क्षपक के शव का अन्तिम संस्कार हो चुकने के बाद संघ का कर्त्तव्य :—

चार आराधनाओं की प्राप्ति की वाञ्छा से समस्त संघ को एक कायोत्सर्ग करना चाहिये।

चरणानुयोग के ग्रंथों में जहाँ यह प्रकरण आया है कि कहाँ कौनसी भक्तियाँ करना चाहिए, वहाँ लिखा है कि सामान्य मुनि का स्वर्गवास होने पर उनके शरीर (दाहसंस्कार प्रारम्भ हो जाने पर) और निषधा (निषीधिका के दर्शन करते समय) की क्रिया में सिद्ध, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करनी चाहिये। आचार्य की समाधि होने पर उनके शरीर और निषधा की क्रिया में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शान्ति और समाधि भक्ति बोलनी चाहिए, इत्यादि।

वैयावृत्य के लिये गृहस्थों के यहाँ से मँगाये हुए वस्त्र तथा काष्ठ आदि उपकरण जो लौटाने योग्य हों, उन्हें यथास्थान लौटा देने चाहिए। (मू० आ० गा० १९९३)

अपने गण के मुनि का मरण होने पर उस दिन सर्व संघ को उपवास करना चाहिए और उस दिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिए तथा पर गण के मुनि का मरण होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। उपवास भजनीय है।

क्षपक के मृत शरीर की स्थापना करने के बाद तीसरे दिन वहाँ जाकर देखना चाहिये कि संघ का सुख से विहार होगा या नहीं। तथा क्षपक को किस गति की प्राप्ति हुई है ? जितने दिनों तक पशुपक्षी क्षपक के शरीर का स्पर्श नहीं करते उतने वर्षों तक उस राज्य में क्षेम रहेगा। पशुपक्षी क्षपक के शरीर को जिस दिशा में ले जावें उस दिशा में विहार करने से संघ में क्षेम आदि कुशल रहेगी। यदि क्षपक का मस्तक या दन्त पंक्ति पर्वत के शिखर पर दिखें तो समझना चाहिए कि क्षपक को निर्वाण की प्राप्ति हुई है। यदि उच्च स्थल पर दिखें तो समझना चाहिए कि वह वैमानिक हुआ है। समभूमि में दिखने से ज्योतिष्क या व्यन्तर हुआ है, किंतु यदि गड्ढे में दिखाई दे तो समझना चाहिए कि क्षपक भवनवासी देवों में उत्पन्न हुआ है।

क्षपक के शव का दाह संस्कार करने पर भी गृहस्थों को तीसरे दिन वहाँ जाकर उनकी अस्थियों आदि की यथायोग्य क्रिया करनी चाहिए।

जो शूरवीर और ज्ञानवान् महापुरुष चतुर्विध संघ के मध्य प्रतिज्ञापूर्वक चार प्रकार की आराधना रूपी पताका को ग्रहण करते हैं, वे धन्य हैं, क्योंकि अनन्त काल में भी प्राप्त न होने वाली आराधना के लाभ से त्रैलोक्य में और कोई महान् लाभ नहीं है।

वे परमपूज्य निर्यापकाचार्य तथा त्रियोगशुद्धिपूर्वक सर्वशक्ति लगाकर वैयावृत्य करने वाले अन्य साधुगण भी धन्य हैं। जगत् में वे महापुरुष भी धन्य हैं जो पापकर्म रूप मैल का क्षालन करने वाले क्षपकरूपतीर्थ में भक्तियुक्त स्नान करते हैं अर्थात् क्षपक के दर्शन करते हैं, क्योंकि जब पूर्व में होने वाले ऋषि-मुनियों की प्रतिमा के दर्शन करने वालों को पुण्यबन्ध होता है तब साक्षात् क्षपक की वन्दना करने से प्रचुर पुण्यबन्ध क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा।

जो भद्र एक पर्याय में समाधिमरणपूर्वक मरण करता है वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नहीं करता, तथा सल्लेखनाधारक क्षपक का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है अतः सभी को मन-वचन-काय से सल्लेखना का आदर करना चाहिए।

समाधिग्रहण नक्षत्र से मरणकाल का ज्ञान :–

जो क्षपक यथार्थ में संस्तरारूढ़ है, जिसकी अन्तर्बाह्य विशुद्धि है, साधना आत्मज्ञानपूर्वक है तथा आलोचना निर्दोष (मायाचार रहित) हुई है, उस क्षपक का किस नक्षत्र में यम-सल्लेखना लेने पर किस नक्षत्र में मरण होगा ? इसका आगमानुसार विवेचन इस प्रकार है :–

१. अश्वनी नक्षत्र में संस्तरारूढ़ होने पर स्वाति नक्षत्र की रात्रि में मरण होगा।
२. भरणी नक्षत्र में रेवती नक्षत्र के प्रातःकाल में मरण होगा।
३. कृतिका नक्षत्र में उत्तराफाल्गुनि नक्षत्र मध्याह्न काल में मरण होगा।
४. रोहणी नक्षत्र में श्रवण नक्षत्र में अर्धरात्रि में मरण होगा।
५. मृगशिरा नक्षत्र में पूर्वाफाल्गुन में अर्धरात्रि में मरण होगा।
६. आर्द्रा नक्षत्र में दूसरे दिन मरण होगा, और यदि दूसरे दिन न हुआ तो आगामी उसी (आर्द्रा) नक्षत्र में अवश्य होगा।
७. पुनर्वसु नक्षत्र में अश्वनी नक्षत्र में मरण होगा।
८. पुष्य नक्षत्र में मृगशिरा नक्षत्र में मरण होगा।
९. आश्लेषा नक्षत्र में चित्रा नक्षत्र में मरण होगा।
१०. मघा नक्षत्र में उसी दिन मरेगा अथवा आगामी उसी नक्षत्र में मरण होगा।
११. पूर्वाफाल्गुन नक्षत्र में धनिष्ठा नक्षत्र में मरण होगा।
१२. उत्तराफाल्गुन नक्षत्र में मूल नक्षत्र के प्रदोष काल में मरण होगा।
१३. हस्त नक्षत्र में भरणी नक्षत्र में दिन में मरण होगा।
१४. चित्रा नक्षत्र में मृगशिरा में रात्रि में मरण होगा।
१५. स्वाति नक्षत्र में रेवती नक्षत्र में प्रभात काल में मरण होगा।
१६. विशाखा नक्षत्र में आश्लेषा नक्षत्र में मरण होगा।
१७. अनुराधा नक्षत्र में पूर्वाभाद्र पद में दिन में मरण होगा।
१८. ज्येष्ठा नक्षत्र में .....
१९. मूल नक्षत्र में ज्येष्ठा नक्षत्र में प्रातःकाल में मरण होगा।
२०. पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में मृगशिरा नक्षत्र के प्रदोष काल में मरण होगा।
२१. उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में उसी दिन मरेगा अथवा उत्तराभा० में सन्ध्या में मरेगा।
२२. श्रवण नक्षत्र में उत्तराभाद्र पद नक्षत्र में मरण करेगा।
२३. धनिष्ठा नक्षत्र में उसी दिन मरेगा अथवा पुनः वही दिन आने पर मरेगा।
२४. शतभिषा नक्षत्र में ज्येष्ठा नक्षत्र में मरण करेगा।
२५. पूर्वाभाद्र पद नक्षत्र में पुनर्वसु नक्षत्र में रात्रि के समय मरण करेगा।
२६. उत्तराभाद्र पद नक्षत्र में उसी दिन अथवा रात्रि में मरण करेगा।
२७. रेवती नक्षत्र में मघा नक्षत्र में मरण को प्राप्त होगा।

अज्ञात लेखक द्वारा लिखे गये

समाधिमरण सम्बन्धी उद्‌बोधनों का भाषान्तर

।। ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।। अब अपने इष्टदेव को नमस्कार करके अन्त में होने वाले समाधिमरण का वर्णन करते हैं, सो हे भव्य ! तु सुनो।

समाधिमरण का लक्षण :–

समाधिनाम निःकषाय शान्त परिणामों का जानना। ऐसा इसका स्वरूप है, अब आगे इसी का विशेष कहते हैं :–जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, उनका यह स्वभाव सहज ही होता है कि वे समाधिमरण को ही चाहते हैं। वे निरन्तर ऐसी भावना भाते हैं कि जब भी मरण का अवसर आवे तब मैं ऐसा सावधान रहूँ जैसे किसी सोते हुए सिंह को किसी महापुरुष ने ललकारा कि हे सिंह ! उठो अपना पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करो। देखो ! आपके ऊपर बैरियों की फौज आ पहुँची है। शीघ्र ही गुफा से बाहर निकलो ! और जब तक बैरियों का समूह कुछ दूर है तब तक तुम उसे जीतने का कुछ उपाय कर लो, क्योंकि महापुरुषों की यही रीति है। महापुरुष के वचन सुनकर शार्दूल शीघ्र ही उठा, और गुफा के बाहर आकर ऐसी गुँजार लगाई मानो आसाढ़ मास में इन्द्र का ही धड़ाका हुआ हो। सिंह की भयङ्कर गर्जना सुनकर बैरियों की फौज के हाथी, घोड़े और मनुष्य आदि कम्पायमान हो गये और सिंह को जीतने में असमर्थ होता हुआ हाथियों का सरदार आगे पैर भी नहीं रख सका। हाथियों के हृदय में सिंह का भय बैठ गया इससे वे धीरज छोड़ बैठे। अर्थात् सिंह का पराक्रम सहन नहीं कर सके।

इसी प्रकार सिंह स्थानीय सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण समय में अपने पास आने वाली कर्म रूपी बैरियों की सेना को जीतने का विशेष उद्यम करता है। कर्मों का आक्रमण जानकर सम्यग्ज्ञानी पुरुष सिंह के सदृश कायरता का दूर से ही परित्याग करता हुआ सावधान रहता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष के हृदय में आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रगट प्रतिभास होता है कैसा है उसका प्रतिभास–ज्ञान ज्योति से प्राप्त होने वाले आनन्द रस से भरा हुआ, साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्तिक चैतन्य धातु का पिण्ड, अनन्त गुणों से युक्त चैतन्यदेव आपको जानता है अतः इसके अतिशय से परद्रव्यों में अंश मात्र भी रञ्जित अर्थात् रागी नहीं होता। रागी क्यों नहीं होता ? क्योंकि वह अपने निज स्वरूप को वीतराग, ज्ञाता, दृष्टा, पर द्रव्य से भिन्न शाश्वत और

अविनाशी जानता है तथा पर द्रव्य का स्वभाव पूरण, गलन, क्षणभंगुर, विनाशीक और अपने स्वभाव से भिन्न जानता है। तब सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण से क्यों डरेगा ? अर्थात् नहीं डरेगा।

सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण का अवसर आने पर क्या भावना भाता है, और क्या विचार करता है, उसे कहते हैं :—अब इस शरीर से सम्बन्धित आयु एवं बल आदि दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहे हैं। मरण चिह्न प्रगट हो रहे हैं, इसलिये अब मुझे सावधान रहना उचित है, ढील करना उचित नहीं। जैसे सुभट रणभेरी बजने के बाद तुरन्त शत्रु सेना पर चढ़ाई कर देता है, क्षण मात्र भी विलम्ब नहीं करता। वाद्यध्वनि सुनते ही उसे ऐसा वीर रस चढ़ जाता है कि कब जाकर बैरियों से भिड़ूँ और उन्हें जीतूँ। इसी प्रकार अब मेरा भी इस काल को जीतने का अभिप्राय है। अतः है कुटुम्बी जनो ! (अथवा संघ के साधु जन हो !) तुम सुनो ! अहो ! देखो ! इस पुद्गल पर्याय का चारित्र, यह आँखों देखते-देखते ही उत्पन्न हुआ और अब आँखों देखते-देखते ही विलय को प्राप्त हो जायगा। मैं तो पहिले ही इसका यह विनाशीक स्वभाव भली प्रकार जानता था, जो इस समय यह आकर अब उपस्थित हुआ है। अब इस शरीर को स्थिर रखने वाली आयु अति अल्प रही है, उसमें भी समय, प्रति समय गलती जा रही है, अतः अब मैं इसका ज्ञाता, दृष्टा होकर मात्र इसे देखता हूँ। मैं अब इसका मात्र पड़ोसी हूँ, स्वामी एवं कर्ता नहीं हूँ, नहीं हूँ, मैं तो अब केवल यह देख रहा हूँ कि इस शरीर का आयु और बल कैसे पूर्ण (समाप्त) होता है ? और कैसे इस शरीर का नाश होता है ? मैं केवल तमाशगीर बनकर इसका चरित्र देख रहा हूँ कि पुद्गल के अनन्त परमाणुओं ने मिलकर इसकी रचना की थी, और उनका विघटन ही अब इसे मार रहा है। शरीर पुद्गल से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, और वह मेरा स्वरूप भी नहीं है। मेरा स्वभाव तो एक चैतन्य धातुमय, शाश्वत और अविनाशी है तथा इसकी महिमा अद्भुत है सो मैं किससे कहूँ ? देखो ! देखो !! इस पुद्गल पर्याय का माहात्म्य, जो इन अनंत पुद्गल-परमाणुओं का एक सदृश परिणमन इतने दिनों तक रहा, सो यह बड़ा ही आश्चर्य है, इन परमाणुओं का अब भिन्न-भिन्न अन्य-अन्य रूप जो यह परिणमन हो रहा है उसमें आश्चर्य नहीं। जैसे लाखों मनुष्य मिलकर एक मेला नामक पर्याय की रचना करते हैं, अब यदि वे दीर्घकाल पर्यन्त उस मेला नामक पर्याय को शाश्वत रखते हैं तो इसका आश्चर्य है। क्योंकि इतने दिनों तक लाखों मनुष्यों का परिणमन एक सदृश रहा, इस बात पर आश्चर्य अवश्य होता है, किन्तु जब वे लाखों मनुष्य दसों दिशाओं में भिन्न-भिन्न गमन कर जाते हैं, तब मेला का नाश हो जाता है और लाखों मनुष्यों का भिन्न-भिन्न परिणमन होना तो स्वभाव ही है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार जब इस शरीर का परिणमन अन्य-अन्य प्रकार से होने लगा है, तब यह स्थिर कैसे रह सकता है ? अब इस शरीर नामक पर्याय को बनाये रखने में कोई समर्थ नहीं है। इसे स्थिर रखने में कोई समर्थ क्यों नहीं है ? क्योंकि त्रैलोक्य में जितने भी पदार्थ हैं, उनका परिणमन अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ही होता है, कोई किसी को परिणमन नहीं कराता, कोई किसी का कर्ता नहीं है, और न कोई किसी का भोक्ता ही है। शरीर के परमाणु स्वयमेव आते हैं, स्वयमेव जाते हैं।

स्वयमेव मिलते हैं, स्वयमेव बिछुड़ते हैं, स्वयमेव गलते हैं, और स्वयमेव पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब मेरा आत्मा इस शरीर का कर्ता, भोक्ता कैसे ? मेरे द्वारा सम्हाल किये जाने पर भी यह शरीर रह सकता नहीं, और मेरे द्वारा दूर किये जाने पर भी दूर हो सकता नहीं, क्योंकि यह मेरी आत्मा का कर्तव्य नहीं है। मैंने तो झूठा ही कर्तव्य मान रखा है, इसीलिये अनादि काल से खेदखिन्न एवं आकुल-व्याकुल होता हुआ महादुःख पा रहा हूँ। सो यह दुःखों की प्राप्ति न्यायसंगत ही है, क्योंकि जिसमें अपना उद्यम चलने वाला ही नहीं है ऐसे परद्रव्य का कर्ता बनकर उस परद्रव्य को अपने स्वभाव के अनुरूप परिणमन करना चाहता हूँ, अतः दुःख होगा ही होगा। अब मैं इस दुःख से छुटकारा पाने के लिये अपने आत्मतत्व की श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ। मैं अपने एक ज्ञायक स्वभाव का ही कर्ता हूँ, उसी का भोक्ता हूँ, उसी की वन्दना करता हूँ और उसी का अनुभव करता हूँ, इसीलिये शरीर के नाश से मेरी कुछ हानि नहीं और शरीर के सुरक्षित रहने से मेरा कुछ सुधार (लाभ) नहीं। यह तो प्रत्यक्ष अचेतन द्रव्य है। जैसे काष्ठ, पाषाण हैं, वैसे ही अचेतन मेरा शरीर है। काष्ठ आदि की जड़ता में और इसकी जड़ता में कोई अन्तर नहीं है। इस शरीर के भीतर जो यह ज्ञान (जानन) पने का चमत्कार है, वह तो मेरा स्वभाव है, शरीर का स्वभाव नहीं है। शरीर तो प्रत्यक्ष में मुर्दा है। शरीर में से मेरे (आत्मा के) निकलते ही इसे मुर्दा समझकर दग्ध कर दिया जाएगा। यह जगत मेरे कारण ही इस शरीर का इतना आदर कर रहा है। जगत को इस बात का बोध नहीं है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है, इसीलिये यह अज्ञानी जगत भ्रम से इस शरीर को ही आत्मा समझकर इससे ममत्व कर रहा है। इसके नाश होने से बहुत झूरता है और बहुत-बहुत शोक करता है। कैसा शोक करता है ? हाय ! हाय ! मेरा प्यारा पुत्र ! तू कहाँ चला गया। हाय ! हाय ! मेरे पति, मेरी पुत्री, मेरी माता, मेरे पिता और मेरे प्यारे भ्राता ! तू कहाँ चला गया इत्यादि। अज्ञानी जन इस वर्तमान पर्याय को सत्य और अपनी समझकर उसके विनाश में अनेक प्रकार के विलाप कर-करके मरते हैं और महाक्लेश को प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो ! इस जगत में कौन किसका पति, कौन पुत्र, कौन माता, कौन पिता, किसकी हवेली, किसका मन्दिर, किसका धन, किसका वैभव, किसके वस्त्र और किसके आभूषण हैं। यह समस्त सामग्री झूठी है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। जैसे—स्वप्न में प्राप्त हुआ राज्य, इन्द्रजाल का खेल, भूतों की माया और आकाश में प्राप्त हुई बादलों की शोभा रमणीक दिखाई देती हैं, किन्तु यथार्थ में वह कोई वस्तु नहीं है, इसी प्रकार ये समस्त वस्तुएँ रमणीक सदृश दिखाई दे रही हैं, किन्तु वस्तु स्वभाव का विचार करने पर यह कोई चीज ही नहीं है। यदि ये स्वभाव से वस्तुपने को प्राप्त होतीं तो शाश्वत रहतीं, नाश को प्राप्त क्यों होतीं। ऐसा जानकर अब मैं त्रैलोक्य में स्थित पुद्गल की समस्त पर्यायों (वस्तुओं) से ममत्व छोड़ता हूँ, और इन वस्तुओं के ही सदृश शरीर में भी ममत्व छोड़ता हूँ। इस शरीर के नाश से मेरे परिणामों में अंश मात्र भी खेद नहीं है। इन शरीरादि पर इन द्रव्यों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह रहे तो रहे और जाय तो जाय, इससे मेरा कोई मतलब नहीं। अहो ! देखो ! मोह का स्वभाव, कि जो यह सर्व सामग्री प्रत्यक्ष ही पर है, विनाशीक है और उभयलोक

में दुखदाई है तो भी यह संसारी जीव इसे अपनी मानता है और निरन्तर इसे अपने पास बनाये रखने की इच्छा करता है। मैंने इसका यह चरित्र खूब देखा है अतः मैं ज्ञाता, दृष्टा होता हुआ मात्र अपने ज्ञान स्वभाव का ही अवलोकन करता हूँ। काल का आगमन देखकर भी मैं डरता नहीं हूँ, क्योंकि काल का प्रभाव तो इस शरीर के ऊपर है, मेरे ऊपर नहीं। जैसे मक्खी दौड़-दौड़ कर विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं पर ही जाकर बैठती है, अग्नि पर कदापि नहीं बैठती, वैसे ही यह काल दौड़-दौड़ कर शरीर को ही ग्रसित करता है और मुझसे दूर-दूर ही भागता है, मुझे कभी ग्रसित नहीं कर सकता, क्योंकि मैं तो अनादि अविनाशी चैतन्य देव और त्रैलोक्य पूज्य हूँ अतः ऐसे उत्कृष्ट पदार्थ पर काल का वश नहीं चलता। इस स्थिति में कौन मरे, कौन जन्म ले और कौन मरण का भय करे। मुझे तो मरण दिखाई देता नहीं, क्योंकि जो मरता है वह तो पहिले से ही मरा हुआ है और जीवित है वह पहिले ही जीवित था। जो मरता है वह जीता नहीं है और जीता है वह मरता नहीं है, केवल मोह दृष्टि से अन्यथा प्रतिभासित होता है, और मेरे मोह का विलय हो चुका है, अतः जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही मुझे प्रतिभासित हो रहा है। इस यथार्थ प्रतिभास में जन्म, मरण, सुख और दुःख आदि कुछ भी नहीं है, तब मैं किस बात का सोच करूँ या शोक आदि करूँ। मैं तो एक चैतन्यधातुमय अमूर्तिक और शाश्वत हूँ, अतः उसी का अवलोकन करता हूँ तब मुझे मरण आदिका दुःख कैसे व्याप सकता है ? कैसा हूँ मैं ? ज्ञानानन्द निज रस से पूर्ण भरा हुआ हूं और शुद्धोपयोगी होता हुआ ज्ञानरस को प्राप्त करता हूँ तथा ज्ञान अंजुलि से आत्म-अमृत को पीता हूँ। यह आत्म-अमृत मेरे ही स्वभाव से उत्पन्न हुआ है अतः स्वाधीन है, पराधीन नहीं है, इसलिये उसके भोग से मुझे खेद नहीं है। कैसा हूँ मैं ? अपने निज स्वभाव में स्थित हूँ अडोल हूँ, अकम्प हूँ, अपने निज रस से अतिशय परिपूर्ण हूँ और ज्वलन्त अर्थात् दैदीप्यमान ज्ञान ज्योति से प्रगट अपने ही निज स्वभाव में स्थित हूँ। देखो ! अद्भुत चैतन्य स्वरूप की महिमा ! इसके ज्ञान स्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन नहीं करता और ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान में विकल्प का अंश भी नहीं आता इसलिये निर्विकल्प, अभोग, अतीन्द्रिय, अनुपम और बाधा रहित अखण्ड सुख उत्पन्न होता है, सो यह सुख संसार में नहीं है। संसार में तो दुःख ही है। अज्ञानी जीवों को सुख का आभास जैसा होता है। कैसा हूँ मैं ? ज्ञानादि गुणों से पूर्ण भरा हुआ हूँ, ज्ञानादि गुणमय एक वस्तु होता हुआ भी मैं अनन्त गुणों की खान हूँ। मेरा चैतन्य स्वरूप जहाँ-तहाँ चैतन्य ही चैतन्य रस से व्याप्त है। जैसे नमक की डली के सर्वांग में क्षार रस व्याप्त है अथवा जैसे शक्कर की डली का पिण्ड सर्वांग मिष्ट अर्थात् अमृत रस से व्याप्त रहता है, उसी प्रकार मैं एक मात्र ज्ञानमय पिण्ड हूँ सर्वांग ज्ञान रस से व्याप्त हूँ। मेरे इस शरीर का जितना आकार है, उतना ही आकार मेरा है। वस्तु स्वरूप का विचार करते हुए मेरा आकार तीन लोक प्रमाण है। अवगाहन शक्ति के कारण लोक में यह आकार समा गया है। एक-एक प्रदेश में असंख्यात असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न स्थित हैं और सर्वज्ञ देव उन्हें भिन्न-भिन्न ही देखते हैं। इस आत्मा से संकोच विस्तार शक्ति है। आगे कैसा है मेरा निज स्वभाव ! अनन्त आत्मीक सुख का भोक्ता है, एक सुख की ही मूर्ति है, चैतन्यमय

और पुरुषाकार है। जैसे मिट्टी के साँचे में एक शुद्ध रूपामय धातु के बिम्ब को निर्मापित करते हैं, वैसे ही आत्मा का स्वभाव इस शरीर के मध्य में जानना चाहिए। जैसे मिट्टी के सांचे के गल जाने पर, जल जाने पर या उसके हट जाने पर बिम्ब ज्यों-का-त्यों रहता है और सबों को प्रत्यक्ष दिखाई देता है। साँचे का विनाश होने पर वस्तु का विनाश नहीं होता क्योंकि वस्तु पहिले ही भिन्न थी, तब एक का नाश होने पर दूसरी वस्तु का नाश कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार काल को प्राप्त करके यह शरीर गलता है तो गले। मेरे स्वभाव का तो विनाश है नहीं, मैं क्यों सोच करूँ ? कैसा है मेरा यह चैतन्य स्वरूप ? आकाश की निर्मलता से भी अधिक निर्मल है। जैसे आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह एक स्वच्छता का पिण्ड मात्र है, वैसे ही मेरी आत्मा है। कोई यदि तलवार से आकाश को छेदना चाहे, भेदना चाहे, अग्नि में जलाना चाहे और पानी में गलाना चाहे तो वह आकाश कैसे छिदे, कैसे भिदे, कैसे जले और कैसे गले ? कदाचित् भी उसका विनाश नहीं होता। जैसे कोई आकाश को पकड़ना चाहे या तोड़ना चाहे, तो वह कैसे पकड़ा जाय और कैसे टूटे ? उसी प्रकार मैं भी आकाश की निर्मलता से भी अधिक निर्मल, निर्विकार और मात्र निर्मलता का पिण्ड हूँ। मेरा नाश किसी भी प्रकार नहीं होता यह अटल सिद्धान्त है। यदि आकाश का नाश हो तो मेरा भी नाश होगा ? सो है नहीं, किन्तु आकाश के स्वभाव में और मेरे स्वभाव में इतना विशेष है कि आकाश जड़ और अमूर्तिक पदार्थ है और मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूँ। जब मैं चैतन्य हूँ तभी तो ऐसा विचार कर सका कि यह आकाश जड़ है और में चैतन्य हूँ। मेरा जानपना प्रत्यक्ष ही विद्यमान दिखाई दे रहा है, किंन्तु यह ज्ञातृपना आकाश में दिखाई नहीं देता, अतः मैं एक चैतन्य पदार्थ हूँ, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। फिर भी मैं कैसा हूँ ? जैसे शीशा, मात्र एक स्वच्छ शक्ति का ही पिण्ड है और उस स्वच्छ शक्ति में स्वयमेव ही घटपटादि पदार्थ झलकते रहते हैं। दर्पण अपनी स्वच्छ शक्ति से तन्मय है तथा व्याप्य व्यापक भाव से व्याप्त है, इसी प्रकार मैं भी एक स्वच्छ शक्तिमय हूँ। मेरी स्वच्छ शक्ति में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव ही झलकते हैं। मैं ऐसी स्वच्छ शक्ति से तादात्म्य व्याप्य व्यापक भाव से अपने स्वभाव में स्थित हूँ। मेरे सर्वांग में एक स्वच्छता ही भर रही है। ऐसा ज्ञात हो रहा है मानों ये समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वच्छतामय हो गये हैं, फिर भी स्वच्छता भिन्न है और ज्ञेय पदार्थ भिन्न हैं, सो यह स्वच्छ शक्ति का स्वभाव ही ऐसा है जिसमें पदार्थों का प्रतिबिम्ब आता ही है। आगे कैसा हूँ मैं ? अत्यन्त अतिशय कर निर्मल साक्षात् प्रगट ज्ञान के पुञ्ज से ही बना हूँ। अत्यन्त शान्ति रूप स्व-रस से पूर्ण भरा हूँ। एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ कैसा है मेरा चैतन्य स्वरूप ? अपनी अनन्त महिमा से विराजमान है, उसे किसी के सहारे की अभिलाषा नहीं है। असहाय स्वभाव को धारण किये हुए है। स्वयम्भू है। एक अखण्ड ज्ञानमूर्ति, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी परम देव यही है, इससे उपरान्त अन्य अत्कृष्ट देव किसे मानूँ ? जो त्रिलोक और त्रिकाल में अन्य कोई होय तो मानूँ, जब कोई है ही नहीं तब यही मेरा उत्कृष्ट देव है और कैसा है मेरा ज्ञान स्वभाव ? अन्य ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन नहीं करता और अपने निज स्वभाव की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं

करता। जैसे समुद्र जल समूह से पूर्ण भरा है परन्तु ..... नहीं करता। अपनी तरंगावलि रूप लहरों से अपने ही स्वभाव में भ्रमण करता है, उसी प्रकार यह ज्ञान समुद्र शुद्ध परिणति रूप तरंगावली से सहित अपने सहज स्वभाव में ही भ्रमण करता है। ऐसी अद्भुत महिमा से विराजमान मेरा स्वरूप परम देव इस शरीर से भिन्न अनादि काल से अवस्थित है। मेरा इस शरीर से पड़ोसी का-सा सम्बन्ध है, क्योंकि मेरा स्वभाव भिन्न प्रकार इसका स्वभाव भिन्न प्रकार है। मेरा परिणमन भिन्न प्रकार है और इसका परिणमन भिन्न प्रकार है। इस समय यह शरीर गलन स्वभाव रूप परिणमन कर रहा है, इसमें मैं क्यों शोक करूँ और क्यों दुःख करूँ मैं तो तमाशगीर तथा पड़ोसी बनकर स्थित हूँ। इस शरीर से मेरा रागद्वेष नहीं है क्योंकि रागद्वेष जगत में निन्द्य है और परलोक में महा दुखदाई है। ये राग, द्वेष, मोह से ही उत्पन्न होते हैं अतः जिसका मोह विलय को प्राप्त हो गया उसका रागद्वेष भी नाश हो गया। मोह से परद्रव्य में अहङ्कार ममकार उत्पन्न होता है, जो वह द्रव्य है वही मैं हूँ ऐसे अध्यवसान का नाम अहंकार है, और यह द्रव्य मेरा है ऐसे अध्यवसान का नाम ममकार है। यह सामग्री न तो इच्छानुसार प्राप्त होती है और न इच्छानुसार छोड़ी जाती है, इसीलिये यह आत्मा खेद खिन्न होता है। यदि सर्व सामग्री पर ही ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाय तो उसके आने-जाने का विकल्प ही क्यों उत्पन्न हो ? मेरा मोह पहिले ही विलय को प्राप्त हो चुका है, और पहिले ही मैं शरीरादि सर्व सामग्री को पर जान चुका हूँ, तब क्या इस शरीर के जाने का विकल्प मुझे अब उत्पन्न हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता क्योंकि मैं विकल्प उत्पन्न करने वाले का पहिले ही भलीभांति नाश कर चुका हूँ। अब मैं निर्विकल्प आनन्दमयी निज स्वरूप को बारम्बार सम्हालता हुआ उसी भाव में स्थित रहने का प्रयास करता हूँ।

यहाँ कोई कहे कि यह शरीर तुम्हारा नहीं है यह बात तो सत्य है, किन्तु यह शरीर ही मुनिपर्याय में शुद्धोपयोग का साधन है, अतः इसका यह उपकार जानकर तो कम से कम इसे सुरक्षित रखने का उद्यम करना उचित है, इसमें तो आपका कोई घाटा नहीं है। इसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई ! आपने जो बात कही वह मैं भी जानता हूँ कि शुद्धोपयोग का और ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों की वृद्धि का कारण यह मनुष्य शरीर ही है, इस शरीर के न होने से अन्य पर्यायों में इन गुणों की प्राप्ति दुर्लभ है, किन्तु अपने संयमादि गुणों के रहते यदि शरीर रहता है तो रहे और न रहे तो जाय। इससे मेरा कोई बैर तो है नहीं, जो मैं इसे साधक होते हुए भी नाश करूँ, किन्तु अपने संयमादि गुण जब तक निर्विघ्न पलेंगे तब तक ही इसकी रक्षा करूँगा, इसके बाद तो इसे अवश्य ही छोड़ूँगा। शरीर रक्षा के लिये संयमादि गुणों में दूषण कदापि न लगाऊँगा। जैसे कोई रत्नों का व्यापारी रत्नद्वीप में फूस की झोंपड़ी बना कर रहता है और उस झोंपड़ी में रत्न ला-लाकर इकट्ठे करता है, यदि अचानक उस झोंपड़ी में आग लग जाय तो वह विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करता है कि किसी भी प्रकार इस अग्नि को शान्त करके रत्नों सहित झोंपड़ी की रक्षा करना चाहिये। यदि यह झोंपड़ी सुरक्षित रह जायगी तो इसके सहारे और भी बहुत से रत्न इकट्ठे कर सकूँगा। यदि वह पुरुष अग्नि को

शान्त करने में सफल होता है तो रत्नों के साथ-साथ झोंपड़ी की रक्षा कर लेता है और यदि उसे यह दिखाई देता है कि रत्नों को नष्ट करके झोंपड़ी की रक्षा होगी तो वह कदाचित् भी झोंपड़ी की रक्षा में उद्यम नहीं करता। झोंपड़ी को तो जलने देता है और आप अपने सर्व रत्न लेकर अपने देश चला जाता है। वहाँ जाकर एक-दो रत्न बेचकर अनेक प्रकार की विभूति को भोगता है, और अनेक प्रकार के रजत एवं स्वर्णमय महल और हवेलियाँ बनवाकर तथा बाग-बगीचों का निर्माण करवाकर राग-रंग पूर्वक उनमें आनन्द से क्रीड़ा करता है, तथा निर्भय होता हुआ सुख से रहता है। इसी प्रकार भेदविज्ञानी पुरुष शरीर के लिये अपने संयमादि गुणों में अतीचार भी नहीं लगाता, और ऐसा विचार करता है कि जो संयमादि गुण रहेंगे तो मैं नवीन देव पर्याय धारण कर वहाँ से [1] विदेह आदि क्षेत्रों में जन्म लेकर सीमन्धर आदि तीर्थङ्करों का, अनेक केवलीभगवन्तों का और अनेक मुनिराजों का दर्शन करके जन्म-जन्म के संचित पापों का नाश करूँगा। अनेक प्रकार का संयम ग्रहण कर तपश्चरण करूँगा। तीर्थंकर और केवली भगवन्तों के चरणारविन्दों में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करूँगा। अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तरों द्वारा तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर संसार के कारण भूत राग द्वेष का जड़ मूल से नाश करूँगा, और श्री परमदयाल आनन्दमय अर्हन्त देव के दर्शन रूपी अमृत को पी-पीकर उनके आदेशानुसार आचरण करूँगा। उस आचरण से मेरा कर्म कलंक धुल जायगा और मैं पवित्र हो जाऊँगा। श्री तीर्थंकर देव के निकट दीक्षा ग्रहण कर नाना प्रकार के दुद्धर तपश्चरण करूँगा जिसकी अतिशयता से अत्यन्त निर्मल शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी, जिससे अपने आत्म स्वरूप में अत्यन्त स्थिर होकर क्षपक श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होऊँगा, पश्चात् क्रीड़ा (क्षण) मात्र में कर्म रूपी शत्रुओं को जड़-मूल से नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करूँगा, तब एक ही समय में समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्बन्धी चराचर पदार्थ मुझे भी दिखाई देने लगेंगे और यह अनुपम स्वभाव फिर अनन्तकाल पर्यन्त शाश्वत रहेगा। इस प्रकार जब मैं ऐसी अपूर्व लक्ष्मी का स्वामी हूँ तब मुझे इस शरीर से कैसे ममत्व उत्पन्न होगा ? सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसी ही भावना में अवस्थित रहता है। वह पुनः सोचता है कि मुझे तो दोनों ओर से आनन्द-ही-आनन्द है, यदि यह शरीर रहेगा तो भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा और यदि नाश हो जायगा तो परलोक में जाकर भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा। इस प्रकार मुझे तो शुद्धोपयोग की आराधना में कोई विघ्न दिखाई देता नहीं है तब भला फिर मेरे परिणामों में संक्लेश उत्पन्न क्यों होगा ? मेरा परिणाम शुद्ध स्वरूप से अत्यन्त आशक्त है। उस आसक्ति को दूर करने में एक मात्र मोह कर्म समर्थ था सो उसे मैंने पहिले जीत लिया है। अब त्रैलोक्य में कोई मेरा बैरी रहा नहीं और मोह बैरी बिना त्रैलोक्य और तीन काल में कोई दुःख देने वाला है नहीं, तब मुझे मरण भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, इसीलिये आज मैं सर्व प्रकार से निर्भय हुआ हूँ, यह बात तुम भली प्रकार जानो और इसमें किसी प्रकार का सन्देह

---

१. संयमादि गुणों को सुरक्षित रखने वाला स्वर्ग जाकर ही विदेह जा सकता है, क्योंकि संयमी विदेह जाता नहीं और मनुष्यायु का बन्ध करने वाला संयम ग्रहण नहीं कर सकता।

मत करो। इस प्रकार शुद्धोपयोग की आराधना करने वाला महापुरुष अपने शरीर की स्थिति को पूर्ण जानकर उपर्युक्त विचारों में आनन्दमय रहता है। किसी प्रकार की आकुलता उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि आकुलता ही संसार का बीज है, इसी बीज से संसार की स्थिति है। आकुलता करने से बहुत काल में संचित किये हुए भी संयम आदि गुण अग्नि में डाले हुए बहुमूल्य पदार्थों के सदृश भस्म हो जाते हैं, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को किसी प्रकार की आकुलता नहीं करना चाहिए। निश्चय से अपने एक आत्मस्वरूप का ही बारम्बार विचार करना चाहिए। उसी को बार-बार देखना चाहिए, उसी के गुणों का बार-बार चिन्तन करना, उसी की शुद्ध पर्याय का विचार एवं वाञ्छा करना और उसीका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। जब अपने शुद्धस्वरूप से चलायमान हो तब ऐसा विचार करना चाहिये कि यह संसार अनित्य है, इसमें कुछ भी सार नहीं है, यदि सार होता तो तीर्थंकर देव क्यों छोड़ते ? इसलिये अब मुझे निश्चय से तो मेरे अपने स्वरूप का ही शरण है और बाह्य में पञ्चपरमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रय धर्म शरण है। कदाचित् भी तथा स्वप्न में भी तथा भूलकर भी मेरा अभिप्राय अन्य को शरण मानने का नहीं है यह मेरा दृढ़ संकल्प है। ऐसा विचार करके पुनः अपने उपयोग को अपने आत्मस्वरूप में ही लगावे, और यदि पुनः वहाँ से उपयोग लौटे तो अरहन्त, सिद्ध के आत्मस्वरूप का अवलोकन करे, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करे। उनके द्रव्य गुण पर्याय का विचार करते-करते जब उपयोग निर्मल हो तब फिर उसे अपने स्वरूप में लगावे। अपने स्वरूप सदृश अरहन्त सिद्ध का स्वरूप है, और अरहन्त सिद्ध के स्वरूप सदृश अपना स्वरूप है। किसी भी प्रकार द्रव्यत्व स्वभाव में अन्तर नहीं है किन्तु पर्याय स्वभाव में तो अन्तर है ही। जो मैं हूँ सो तो द्रव्यत्व स्वभाव का ही ग्राहक हूँ, अतः अरहन्त का ध्यान करते-करते आत्मा का ध्यान भली-भाँति बन जाता है और आत्मा का ध्यान करते-करते अरहन्त का ध्यान हो जाता है। अरहन्त के और आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है, चाहो तो अरहन्त का ध्यान करो और चाहो तो आत्मा का ध्यान करो।

अब कुटुम्ब परिवार से ममत्व कैसे छुड़ावे ?

वह कहता है कि अहो ! इस शरीर के माता-पिता ! तुम भलीभाँति यह जान लो कि वह शरीर जब तक आपका था तब तक था, अब तुम्हारा नहीं है। अब इसका आयु और बल समाप्त हो रहा है सो यह किसी के भी पुरुषार्थ से रह नहीं सकता। इसकी इतनी ही स्थिति थी अब इसके नाश का समय आ चुका है अतः अब इससे ममत्व छोड़ो। अब इससे ममत्व करने से क्या ? इसकी प्रीति दुःख का ही कारण है यह शरीर रूप पुद्गल की पर्याय इन्द्रादिक देवों की भी विनाशीक है। जब मरण समय आता है तब इन्द्रादिक देव भी मुख फाड़े खड़े रहते हैं, सर्व देवों का समूह देखता ही रहता है और काल रूप किंकर उसे (शरीर को) उठाकर ले जाता है। इस समय किसी की भी शक्ति नहीं कि जो काल की दाढ़ में से छुड़ाकर क्षणमात्र भी स्थित रख सके। यह काल रूपी किंकर एक-एक को ले जाकर सर्व को

भक्षण कर जायगा। जो अज्ञान से काल के वशीभूत रहेगा उसकी यही गति होगी। आप लोग मोह के वशीभूत होकर दूसरे के शरीर से ममत्व कर रहे हो, और इसे स्थिर रखना चाहते हो। मोह के कारण आपको संसार का चरित्र विपरीत मालूम नहीं होता। दूसरे के शरीर को बनाए रखना तो दूर है आप पहिले अपने शरीर को तो सुरक्षित रखलो ! पीछे दूसरों के शरीर को सुरक्षित रखने का उपाय करो। आपकी जो यह भ्रम बुद्धि है वह वृथा ही दुःख का कारण है। क्या आपको यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रहा है कि इस संसार में काल ने जब पहिले भी किसी को नहीं छोड़ा तब अब किसी को कैसे छोड़ देगा ? जो हाय-हाय करते हुए दुःखी होते हो। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आप निर्भय होकर स्थित क्यों नहीं रहते ? आपका यह कौन-सा अज्ञान है तथा आपकी कैसी होनहार है ? यह मुझे कुछ समझ में नहीं आता। मैं आपसे पूछता हूँ कि आपको आपा पर की भी कुछ खबर है या नहीं ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? और इस पर्याय को छोड़कर अब कहाँ जाऊँगा ? जिन पुत्र आदि से मैं प्रीति करता हूँ वे कौन हैं ? यदि ये यथार्थ में मेरे पुत्र आदि हैं तो शाश्वत मेरे पास क्यों नहीं रहे ? जन्म से पहिले ये कहाँ थे ? अब तुम्हें उन जीवों में पुत्र आदि की बुद्धि उत्पन्न हुई है, और उनके वियोग में शोक उत्पन्न होता है। अब आप से यही कहना है कि आप चित्त को सावधान करके विचार करो। भ्रम रूप बुद्धि के आधीन मत रहो। आप तो अपने कार्य का विचार करोगे तो सुख पावोगे। पर के कार्य अकार्य पर के हाथ हैं, उसमें आपका कर्त्तव्य कुछ भी नहीं चलेगा। आप लोग वृथा ही खेदखिन्न क्यों होते हो ? तथा अपने आपको मोह के आधीन कर संसार समुद्र में क्यों डूबते हो ? इस संसार मे नरकादि के दुःख आपको ही सहने पड़ेंगे। ये कुटुम्बीजन कोई नहीं सहेंगे, क्योंकि जैनधर्म का ऐसा उपदेश नहीं है कि कोई पाप करे और कोई अन्य उसका फल भोगे। आप लोगों की अज्ञानता को देखकर मुझे बहुत दया आती है, इसलिये आप मेरा उपदेश ग्रहण करो, ग्रहण करो ! मेरा उपदेश आपको बहुत सुखदाई है। मेरा उपदेश सुखदाई क्यों है ? क्योंकि मैंने जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है, और आप जैनधर्म से अत्यन्त विमुख हो, इसलिए आप लोगों को दुष्ट मोह दुःख दे रहा है, और मैंने तो मोह को जैनधर्म के प्रताप से सुलभतापूर्वक जीत लिया है, इसलिये मैं एक जैन धर्म को ही विशेष जानता हूँ, और आप को भी जैन धर्म के स्वरूप का विचार करना ही कार्यकारी है। देखो ! आपकी आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाली है, और ये शरीरादि पर वस्तुएँ हैं, और अपने स्वभाव रूप स्वयमेव परिणमन करती हैं, किसी के द्वारा भी रक्षित नहीं रह सकतीं। भोले जीव भ्रम में पड़े हुए हैं, इसलिये हे भाई ! भ्रम बुद्धि छोड़ो, और एक आपा पर की पहिचान करो, इसी से अपना हित साधन होगा। जिसमें अपना हित हो वही कार्य करना, यही विलक्षण पुरुषों की रीति है, वे मात्र अपने हित को ही चाहते हैं, बिना प्रयोजन एक पग भी नहीं रखते। तुझसे-मुझसे जितना अधिक ममत्व करोगे वह सब दुःख का ही कारण होगा। उससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होना नहीं है। इस जीव ने अनन्त पर्यायों में अनन्त बार भिन्न-भिन्न माता-पिता प्राप्त किये थे सो इस समय वे सब कहाँ चले गये ? इस जीव को अनन्त बार स्त्री, पुत्र एवं पुत्री आदि का संयोग मिला है सो वे सब अब कहाँ गये ? प्रत्येक पर्याय पर्याय

में भ्राता, कुटुम्ब और परिवार आदि की प्राप्ति हुई है सो वह कहाँ गये ? इन संसारी जीवों की पर्याय बुद्धि है, इससे वे जिस पर्याय में जाते हैं, उसी को अपना मानकर उससे तन्मय होते हुए तद्रूप ही परिणमन करते हैं। यह नहीं जानते कि पर्याय विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य, शाश्वत अविनाशी है ऐसा विचार उत्पन्न ही नहीं होता, इसमें आपका कोई दोष नहीं, यह तो सब मोह का ही माहात्म्य है, जो प्रत्यक्ष सत्यार्थ वस्तु को झूठी दिखाता है और झूठी वस्तु को सत्यार्थ दिखाता हैं। जो भेद विज्ञानी पुरुष हैं, जिनका मोह गल गया है वे पर्याय को अपना कैसे मानेंगे और कैसे संयोग को सत्य जानेंगे ? वे महापुरुष क्या किसी के द्वारा चलायमान किये जा सकेंगे ? कदापि नहीं। अब इस समय मुझे ज्ञान भाव रूप पदार्थ की दृढ़ प्रतीति उत्पन्न हुई है। आपा पर का समीचीन ज्ञान हुआ है अतः अब मुझे ठगने में कोई भी समर्थ नहीं है। अनादि काल से प्रत्येक पर्यायों में अनेकों बार ठगाया गया, इसी कारण भव-भव में जन्म-मरण के भयङ्कर दुःख सहन किये हैं, इसलिये अब मैंने भली प्रकार जान लिया है कि आपका और मेरा मात्र इस पर्याय का संयोग था सो अब समाप्त हो रहा है, अतः अब आपको भी आत्मकार्य ही करना उचित है, मोह करना उचित नहीं है। आपका अपना निज आत्मस्वरूप भी शाश्वत है अतः निरन्तर उसकी सम्हाल करते रहो। उसकी सम्हाल में किसी प्रकार का खेद नहीं, किसी के पास जाकर कुछ याचना करना नहीं, अपने ही घर में महा अमूल्य निधि है, यदि एक भी बार उस निधि की सम्हाल कर ली जाय तो जन्म-जन्म का दुःख नाश हो जावे। इस संसार में जितना भी दुःख है वह केवल आत्मस्वभाव को न जानने से ही है, इसलिये एकआत्म ज्ञान की ही आराधना करो क्योंकि जो ज्ञान स्वभाव है वह अपना ही स्वभाव है, उसको प्राप्त करके जीव महासुखी हो जाता है, और उसकी प्राप्ति न होने से महादुखी रहता है। प्रत्यक्ष देखने-जानने स्वभाव वाला ज्ञायक महापुरुष शरीर से भिन्न है, ऐसे अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी बात में प्रीति उत्पन्न करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई [१] सोलहवें स्वर्ग का कल्पवासी देव मध्यलोक में आकर किसी एक रंक पुरुष के शरीर में प्रवेश करके रंक सदृश ही क्रिया करने लगता है। क्या क्रिया करता है ? कभी तो काष्ठ का भार सिर पर रख कर बाजार में बेचने जाता है। कभी मिट्टी का सकोरा हाथ में लेकर माँ एवं स्त्री आदि से रोटी की याचना करता है। कभी मल-मूत्र आदि से लिप्त पुत्रादि को गोद में लेकर रमाता है। कभी राजदरबार में जाकर राजा से इस प्रकार आलोचना करता है कि हे राजन् ! मैं आजीविका के बिना बहुत दुखी हूँ। हे देव ! मेरी प्रतिपालना करो इत्यादि। कभी एक टका (दो पैसे) की मजूरी करता है। कभी हाथ में हँसिया लेकर घास काटता है। कभी रुपया दो-रुपये का माल गुम जाने पर इस प्रकार रोता है कि हाय ! हाय !! अब मैं क्या करूँगा ? मेरा धन चोर ले गये, मैंने बड़ी कठिनाई से कमाया था और बड़ी मुश्किल से इकट्ठा कर पाया था सो आज मेरा सर्वस्व चला गया, मैं अब अपनी जिन्दगी कैसे पूरी करूँगा

---

१. ऐसा ज्ञात होता है कि जैसे लेखक ने अज्ञानी जनों को समझाने के लिये इस प्रकार की कल्पना की है, क्योंकि आगम में ऐसा विषय मुझे कहीं देखने में नहीं आया।

इत्यादि। यदि कभी नगर आदि से भागना पड़ा तो वह कल्पवासी, बनावटी रंक पुरुष एक बालक को कंधे पर बैठाकर, एक की अंगुली पकड़कर, स्त्री और पुत्री को आगे करके चलता है, बांस की टोकनी में खिचड़ी बनाने की मिट्टी की हाण्डी, टूटी चलनी, बुहारी और टुटी-फूटी थाली आदि रख कर स्त्री के सिर पर रख देता है और एक-दो गूदड़ा आदि पोटली में बाँधकर अपने सिर पर रख लेता है तथा अर्धरात्रि में नगर से निकल कर जाता है। रास्ते में जब कोई राहगीर पूछता है भाई ! आप कहाँ जा रहे हो तब कहता है कि इस नगर को बैरियों की फौज ने घेर लिया है इसलिए मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूँ दूसरे नगर में जाकर अपना गुजारा करूँगा इत्यादि। नाना प्रकार के चरित्र करता हुआ भी वह कल्पवासी देव अपने सोलहवें स्वर्ग की विभूति को क्षणमात्र के लिए भी विस्मृत नहीं करता। इस विभूति को देख-देखकर अन्तरंग में महासुखी होता है। उस रंक पुरुष की पर्याय के सम्बन्ध से होने वाली नाना प्रकार की अवस्थाओं में कदाचित् भी अहंकार ममकार नहीं करता। एकमात्र सोलहवें स्वर्ग की देवांगनाओं आदि विभूतियों में और अपने देव पुनीत स्वरूप में ही अहंकार ममकार का भाव आता है, उसी प्रकार मैं सिद्ध समान आत्मद्रव्य इन सांसारिक पर्यायों में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी और सिद्ध सदृश अपने स्वरूप को एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं होता हूँ, तब मैं इस लोक में किसका भय करूँ।

अब स्त्री से ममत्व छुड़ाते हैं :–

अहो ! इस शरीर की स्त्री ! तू अब इस शरीर से ममत्व छोड़। तेरा मेरे इस शरीर से इतना ही सम्बन्ध था सो अब पूर्ण हुआ। इस शरीर से तेरा हित-साधन होगा नहीं, इससे अब तू मोह छोड़ । बिना प्रयोजन खेद मत कर। यदि तू इस शरीर को रख सकती है तो रख ले, मैं मना करता नहीं और यदि तू इसे रखने में असमर्थ है तो अब बोल–इसमें मैं क्या करूँ ? हे रमणी ! तू विचार कर देख कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ, स्त्री पुरुष तो पर्याय है, जो विनाशीक है इसमें कैसी प्रीति ? यह जड़ और आत्मा चैतन्य ऊँट बैल का-सा जोड़ा–सो यह संयोग कैसे बने। यह मेरी पर्याय भी चंचल है ऐसा विश्वास करके तू अपने हित की बात क्यों नहीं सोचती। हे देवि ! इतने दिनों भोग किया सो बतला तो सही कि उससे क्या सिद्धि हुई ? यदि नहीं हुई तो और कुछ दिन भोग, भोग लेने से क्या सिद्धि हो जायगी ? भोग-भोगकर वृथा ही आत्मा को संसार समुद्र में डुबोया और सिर पर नाचने वाले इस मरण के समय को नहीं जाना। मरने के बाद यह तीन लोक की सम्पदा मेरे लिये तो झूठी ही है, क्योंकि अगली पर्याय में तो तूँ मेरी सम्हाल करेगी नहीं। यदि यथार्थ में तू मेरी प्यारी स्त्री है तो मुझे धर्म का उपदेश दे, तेरे लिये यह स्वर्ण का समय मिला है और यदि तू स्वार्थ की सगी है तो तेरी तू जान। मैं तेरे डिगाये नहीं डिगूँगा। मैंने तो तुझ पर दया करके तुझे उपदेश दिया है, मानो तो ठीक है न मानो तो तुम्हारा जैसा होनहार होना होगा सो होगा, मेरा तुमसे अब कोई मतलब नहीं। अब तू मेरे पास से जा और परिणामों में शान्ति रख, आकुलता मत कर क्योंकि आकुलता ही संसार का बीज है। तू भी निराकुल हो आत्मसाधना कर यही हितकर है।

अब गृहस्थ क्षपक कुटुम्ब परिवार को बुलाकर समझाता है :–

अहो कुटुम्बी जनो ! अब इस शरीर की आयु क्षय हो रही है, मेरा परलोक निकट है, इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि आप मुझसे किसी बात का राग नहीं करना। मेरा और आपका चार दिन का मिलाप था, अधिक समय का नहीं। जैसे सराय में राहगीर दो-चार रात्रि को एकत्रित रहें और पीछे बिछुरते समय शोक करें तो यह कहाँ की बुद्धिमानी है ? अब मेरा आप सबके ऊपर क्षमा भाव है। आप सब आनन्द से रहो। अनुक्रम से सबकी यही गति होना है। संसार का ऐसा चरित्र जानकर कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो इससे प्रीति करेगा ?

अब पुत्र को बुलाकर समझाता है :–

अहो पुत्र ! तुम समझदार हो मुझसे किसी प्रकार का मोह नहीं करना। एक जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित धर्म का आराधन करना। धर्म सुख देने वाला है, माता-पिता कोई सुख देने वाले नहीं हैं। जो माता-पिता को सुख का कर्ता मानते हैं यह सब एक मोह का ही माहात्म्य है, कोई किसी का कर्ता नहीं है और न कोई किसी का भोक्ता है। सर्व ही पदार्थ अपने स्वभाव के कर्ता भोक्ता हैं, इसीलिए मैं आप से कहता हूँ कि आप व्यवहार मात्र से मेरी आज्ञा मानते हो। यदि आप यथार्थ में आज्ञाकारी हो तो जो मैं कहूँ सो करो। देखो ! प्रथम तो देव, गुरु, धर्म की अवगाढ़ प्रतीति करो, साधर्मियों से मित्रता रखो, दान, तप, शील और संयम में अनुराग करो, स्व पर का भेद विज्ञान निरन्तर बना रहे ऐसा उपाय करो और संसारी जीवों से प्रीति मत करो क्योंकि ये जीव संसार में सरागी जीवों की संगति से ही महादुःख भोग रहे हैं, इसलिए सरागी जीवों की संगति अवश्य छोड़ना, धर्मात्मा पुरुषों की संगति करना, क्योंकि धर्मात्माओं की संगति से उभयलोकों में सुख की प्राप्ति होती है। इस लोक में तो महानिराकुलता रूप सुख की प्राप्ति होती है और यश भी होता है तथा परलोक में स्वर्गादिक सुख भी मिलते ही हैं किन्तु अनपाय मोक्ष में जाकर शिव रमणी का भर्ता भी हो जाता है तथा निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, शाश्वत और अविनाशी सुख का रसास्वादन करता हुआ अनन्त काल तक अपने आप में ही तृप्त रहता है, इसीलिये हे पुत्रो ! आपको यदि मेरे वचन समीचीन मालूम होते हों तथा इस शिक्षा में आपको अपनी कुछ भलाई दिखाई देती हो तो मेरी शिक्षा अवश्य अंगीकार करो और यदि आपको मेरे वचन झूठ दिखाई देते हों तथा इसमें आपको अपनी भलाई दिखाई न देती हो तो मेरे वचन स्वीकार मत करो। मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। दया बुद्धि से आपको उपदेश दिया है मानो तो मानो और न मानो तो आपकी आप जानो।

इस प्रकार समाधि के सम्मुख हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब अपनी आयु अल्प जानता है तब जो कुछ दान-पुण्य करना होता वह सब स्वयं अपने हाथ से करता है, पश्चात् जिन-जिन पुरुषों को जो कोई भी बात बतलानी होती है उसे कहकर निःशल्य हो जाता है। कार्य करने वाले सभी स्त्री-पुरुषों को जो कुछ देना है वह देकर विदा कर देता है तथा धार्मिक कार्यों में

सहयोग देने वाले पुरुषों को बुलाकर अपने समीप रखता है अपनी आयु की पूर्णता जानकर सर्व परिग्रह पुत्रों को सौंपता है और आप जीवन पर्यन्त के लिये सर्व परिग्रह का और चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है और यदि आयु पूर्ण होने में सन्देह दिखाई देता है तो परिग्रह एवं आहार आदि का दो-चार घड़ी को नियम रूप से त्याग करता हुआ निःशल्य होने की चेष्टा करता है। पलंग से नीचे उतरकर सिंह के सदृश उसी प्रकार निर्भय तिष्ठता है, जैसे बैरियों को जीतने के लिए सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में स्थित होता है। किसी प्रकार की अंश मात्र भी आकुलता उत्पन्न न करता हुआ शुद्धोपयोग का अभिलाषी सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षलक्ष्मी के पाणिग्रहण की वांछा करता हुआ उसमें ऐसा अनुरागी होता है मानो शीघ्र ही उसे वरण करना चाहता है। उसके हृदय में मोक्ष लक्ष्मी का आकार टाँकी से उत्कीर्ण किये हुये के सदृश स्थित रहता है। वह उसे शीघ्र ही वरण करना चाहता है इसीलिये अपनी परिणति में राग भाव का स्थान नहीं देता। उसे इस बात का भय है कि कदाचित् मेरे स्वभाव में रागांश आकर दोष उत्पन्न कर देंगे तो जो मोक्ष लक्ष्मी मुझे वरण करने के सन्मुख हुई है वह पीछे मुड़ जायगी इसलिये मैं इस राग परिणति को दूर ही से छोड़ता हूँ। ऐसे विचार करता हुआ वह सम्यग्दृष्टि जीव अपना काल पूर्ण करता है। उसके परिणामों में निरन्तर निराकुल आनन्द रस प्राप्त करने की, शान्त रस से तृप्त होने की और आत्मीक सुख की वांछा रहती है। एक अतीन्द्रिय सुख की ही वांछा उसे रहती है अन्य किसी वस्तु की वांछा नहीं रहती। यद्यपि उसके पास अभी धर्मात्मा जनों का संयोग है तथापि वह उस संयोग को पराधीन और आकुलता रूप ही समझता है। निश्चय नय से वह विचार करता है कि ये सब संयोग सुख के कारण नहीं है, सुख का कारण तो मेरा एक आत्म तत्व है सो मेरा मेरे पास है, इसलिये स्वाधीन है। इस प्रकार शान्त परिणामों से युक्त होता हुआ वह अपना समाधिमरण करता है जिसके फल से स्वर्ग में इन्द्रादिक की विभूति प्राप्त करता है। वहाँ से चय कर राजाधिराज होकर दीर्घकाल तक राजविभूति को भोगकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर तपश्चरण करता है। पश्चात् क्षपक श्रेणी पर चढ़कर चार घातिया कर्मों को नाश करके केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करता है। कैसी है केवलज्ञानलक्ष्मी ? समस्त लोकालोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थ एक समय में स्वयमेव झलकते हैं, उस सुख की महिमा वचन अगोचर है।

इति श्री समाधिमरण स्वरूप सम्पूर्ण। श्री जिनेश्वराय नमः।। १।।

समाधिमरण

[श्री शिवलालजी]

चिदानन्द चिद्रूप का ध्यान धर,
परम ब्रह्म का रूप आया नजर।
परम बह्म की मुझको आई परख,
हुआ उर में सन्यास का अब हरख।। १।।
लगन आतमाराम सौं लग गई,
महामोहनिद्रा मेरी भग गई।
खुली दृष्टि चैतन्य चिद्रूप पर,
टिकी आन पर-ब्रह्म के रूप पर।। २।।
परम रस की अब तो गटागट मेरे,
शुद्धातम रहस की रटारट मेरे।
यहाँ आज रोने का क्यों शोर है,
मेरे हर्ष आनन्द का जोर है।। ३।।

निरञ्जन की कथनी सुनाओ मुझे,
न कुछ और बतियाँ बताओ मुझे।
न रोओ मेरे पास इस वक्त में,
कि तिष्ठा हूँ खुशहाल खुशवक्त में।। ४।।
जरा रोवने का त आम्मुल करो,
नजर महरबानी की मुझ पर धरो।
उठो अब मेरे पास से सब कुटुम्ब,
तजो मोह मिथ्यात्व का सब विटम्ब।। ५।।
जरा आतमा भान उर आने दो,
परम ब्रह्म की लय मुझे ध्याने दो।
मुझे ब्रह्मचर्चा से वरते हुलास,
करो और चर्चा न तुम मेरे पास।। ६।।
जो भावे तुम्हें सो न भावे मुझे,
न झगड़ा जगत का सुहावे मुझे।
ये काया पै भृकुटि पड़ी मौत की,
निदा आई है यह आज शिवलोक की।। ७।।

ये देह चिरकाल की है मुई,
मेरी जिन्दगी से जिन्दा हुई।
तजा मैंने नफरत से ये मुर्दा आज,
चलो यार अब चल करें मुक्तिराज।। ८।।
जिस्म झोंपड़ी को लगी आग जब,
हुई मेरे वैराग्य की जाग तब।
सम्हाले सुखद रत्न अपने मैं तीन,
लिया ब्रह्म अपने को मैं आप चीन्ह।। ९।।
जिसे मौत है उसको है मुझको क्या,
मुझे तो नहीं फेर भव मुझको क्या।
मेरा नाम तो जीव है, जीव हूँ,
चिरञ्जीव, चिरकाल, चिरजीव हूँ।। १०।।
अखण्डित, अमण्डित, अरूपी, अलख,
अदेही, अगेही, अनेही, अपख।
परम ब्रह्मचर्य, परम शान्त, सम,
निरालोक लोकेश, लोकान्ततम।। ११।।
परम ज्योति परमेश परमातमा,
परम सिद्ध प्रसिद्ध शुद्धातमा।
चिदानन्द, चैतन्य, चिद्रूप हूँ,
निरंजन निराकार शिवभूप हूँ।। १२।।
चिता में धरो इसको ले जा के तुम,
हुए तुमसे रुख़सत क्षमा ले के हम।
कहीं जाओ ये देह क्या इससे काम,
तजी इसकी रगबत मुहब्बत तमाम।। १३।।
मुए सङ्ग रह-रह बहुत कुछ मुए,
मगर आज निर्गुण निरंजन हुए।
तिहूँ जग में संन्यास की ये घड़ी,
मेरे हाथ आई है अद्भुत जड़ी।। १४।।
विषय विष से निर्विष हुआ आज मैं,
चलाचल से अविचल हुआ आज मैं।
परम ब्रह्म लाहा लिया आज मैं,
परम भाव अमृत पिया आज मैं।। १५।।
घटा आत्म उपयोग की आई झूम,
अजब तुर्फ तुरिया बनी रंगभूम।

शुक्लध्यान टाली की टंकोर है,
निजानन्द झांझन की झंकोर है।। १६।।
अजर हूँ अमर हूँ न मरता कभी,
चिदानन्द शाश्वत न डरता कभी।
ये संसार के जीव मरते डरें,
परमपद को शिवलाल वन्दन करे।। १७।।

समाधिमरण

[पं० सूरचन्दजी]

बन्दौं श्री अरहन्त परम गुरु, जो सबको सुखदाई,
इस जग में दुःख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई।
अब मैं अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर माँही,
अन्त समय में यह वर माँगूँ, सो दीजै जगराई।। १।।
भव-भव में तन धार नये मैं, भव-भव शुभ संग पायो,
भव-भव में नृप-ऋद्धि लई मैं, मात-पिता सुत थायो।
भव-भव में तन पुरुषतनों धर, नारी हूँ तन लीनों,
भव-भव में भयो नपुंसक, आतम गुण नहिं चीन्हो।। २।।
भव-भव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे,
भव-भव में गति नरक तनी धर, दुःख पाए विधि योगे।
भव-भव में तिर्यञ्च योनि धर, पायो दुःख अति भारी,
भव-भव में साधर्मी जन को, संग मिल्यो हितकारी।। ३।।
भव-भव में जिनपूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो,
भव-भव में मैं समवसरण में, देख्यो जिनगुण भीनो।
एती वस्तु मिली भव-भव में, सम्यक् गुण नहिं पायो,
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो।। ४।।
काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहि कीन्हो,
एक बार हूँ सम्यक्युत मैं, निज आतम नहिं चीन्हो।
जो निज-पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुःख काँई,
देह विनासी मैं निज भासी, शान्त स्वरूप सदाई।। ५।।
विषय-कषायनि के वश हो कर, देह आपनो जाण्यो,
कर मिथ्या सरधान हिए बिच, आतम नाहिं पिछाण्यो।
यों कलेस हिय धार मरण कर, चारों गति भरमायो,
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण ये, हिरदै में नहिं नहिं लायो।। ६।।

अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय यह माँगों,
रोगजनित पीड़ा मत होवो अरु कषाय मत जागो।
ये मुझ मरण समय दुःखदाता, इन हर साता कीजै,
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्या गद छीजै।। ७।।
यह तन सात कुधातुमयी है, देखत ही घिन आवै,
चर्म लपेटी ऊपर सो है, भीतर विष्टा पावै।
अति दुर्गन्ध अपावन सौं, यह मूरख प्रीति बढ़ावै,
देह विनासी जिय अविनासी, नित्य स्वरूप कहावै।। ८।।
यह तन जीर्ण कुटी सम आतम ! यातें प्रीति न कीजै,
नूतन महल मिलै जब भाई ! तब यामैं क्या छीजे।
मृत्यु-होन से हानि कौन है, याको भय मत लावो,
समता से जो देह तजोगे, तो शुभ तन तुम पावो।। ९।।
मृत्युमित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं,
जीरण तृण ले देत नयो यह, या सम साहू नाहीं।
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजै,
क्लेशभाव को त्याग सयाने, समताभाव धरीजै।। १०।।
जो तुम पूरब पुण्य किए हैं, तिनको फल सुखदाई,
मृत्यु-मित्र बिन कौन दिखावे, स्वर्ग-सम्पदा भाई।
राग-दोष को छोड़ सयाने, सात व्यसन दुःखदाई,
अन्त समय में समता धारो, पर भव पन्थ सहाई।। ११।।
कर्म महादुठ बैरी मेरो, ता सेती दुःख पावै,
तन-पिञ्जर में बन्द कियो मोहि, या सों कौन छुड़ावै।
भूख-तृषा दुःख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढ़ै,
मृत्युराय अब आय दया कर, तन पिञ्जर सौं काढ़ै।। १२।।
नाना वस्त्राभूषण मैंने, इस तन को पहराये,
गन्ध-सुगन्धित अतर लगाये, षट् रस असन कराये।
रात-दिना मैं दास होय कर, सेव करी तन केरी,
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी।। १३।।
मृत्युराय की शरण पाय, तन नूतन ऐसो पाऊँ,
जामैं सम्यक् रतन तीन लहि, आठौं कर्म खपाऊँ।
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहिं कोई जग माहीं,
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सब ही हैं दुःखदायी।। १४।।
यह सब मोह बढ़ावन हारे जिय को दुर्गति दाता,
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता।

मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने, माँगो इच्छा जेती,
समता धर कर मृत्यु करो तो, पावो सम्पत्ति तेती।। १५।।
चौ आराधन सहित प्राण तज, तौ ते पदवी पावो,
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्ग मुकति में जावो।
मृत्यु कल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनों लोक मझारे,
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे।। १६।।
इस तन में क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरण हो है,
तेज कान्ति बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है।
पाँचों इन्द्रिय शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहीं आवै,
ता पर भी ममता नहिं छोडै, समता उर नहिं लावै।। १७।।
मृत्युराज उपकारी जिय को, तन सौं तोहि छुड़ावै,
नातर या तन बन्दीगृह में, पर्‌यो-पर्‌यो विललावै।
पुद्‌गल के परमाणु मिल कर, पिण्ड रूप तन भासी,
याही मूरत मैं अमूरतिक ज्ञान ज्योति गुण खासी।। १८।।
रोग-शोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्‌गल लारै,
मैं तो चेतन व्याधि बिना नित, हैं सो भाव हमारे।
या तन सौं इस क्षेत्र सम्बन्धी, कारण आन बन्यो है,
खान-पान दे या को पोष्यो, अब सम भाव ठन्यो है।। १९।।
मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन, यह तन अपनो जान्यो,
इन्द्रिय-भोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछान्यो।
तन विनशन तें नाश जानि निज, यह अयान दुःखदाई,
कुटुम्ब आदि को अपनो जान्यो, भूल अनादी छाई।। २०।।
अब निज भेद जथारथ समझ्‌यो, मैं हूँ ज्योतिस्वरूपी,
उपजै विनसै सो यह पुद्‌गल, जान्यो याको रूपी।
इष्टऽनिष्ट जेते सुख-दुःख हैं, सो सब पुद्‌गल सागै,
मैं जब अपनो रूप विचारौं, तब ये सब दुःख भागै।। २१।।
बिन समता तनऽनन्त धरे मैं, तिनमें ये दुःख पायो,
शस्त्रघात तैं ऽनन्तबार मर, नाना योनि भ्रमायो।
बार अनन्तहि अग्नि माहिं जर, मूवो सुमति न लायो,
सिंह-व्याघ्र-अहि नन्त बार मुझ, नाना दुःख दिखायो।। २२।।
बिन समाधि ये दुःख लहे मैं, अब उर समता आई,
मृत्युराज को भय नहिं मानो, देवै तन सुखदाई।
यातैं जब लग मृत्यु न आवै, तब लग जप-तप कीजै,
जप-तप बिन इस जग के माहीं, कोई भी नाहिं सीजै।। २३।।

स्वर्गसम्पदा तप सौं पावै, तप सौं कर्म नसावै,
तप ही सौं शिवकामिनिपति है यासों तप चित लावै।
अब मैं जानी समता बिन मुझ, कोऊ नाहीं सहाई,
मात-पिता सुत बान्धव तिरिया, ये सब हैं दुःखदाई।। २४।।
मृत्यु समय में मोह करें ये, तातैं आरत हो है,
आरत तैं गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है।
और परिग्रह जेते जग में तिनसौं प्रीति न कीजै,
पर भव में ये संग न चालै, नाहक आरत कीजै।। २५।।
जे-जे वस्तु लखत हैं ते पर, तिनसों नेह निवारो,
पर-गति में ये साथ न चालें, ऐसे भाव विचारो।
जो परभव में संग चलै तुझ, तिन सौं प्रीत सु कीजै,
पंच पाप तज समता धारो, दान चार विध दीजै।। २६।।
दश लक्षण मय धर्म धरो उर, अनुकम्पा उर लावो,
षोडशकारण नित्य विचारो, द्वादशभावन भावो।
चारों परवी प्रोषध कीजै, अशन रात को त्यागो,
समता धर दुर्भाव निवारो, संयम सौं अनुरागो।। २७।।
अन्त समय में यह शुभ भावहि, होवैं आनि सहाई,
स्वर्ग-मोक्ष फल तोहि दिखावै, ऋद्धि देहिं अधिकाई।
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उर में समता ला के,
जा सेती गति चार दूर कर, बसहु मोक्षपुर जा के।। २८।।
मन थिरता करके तुम चिन्तो, चौ आराधन भाई,
ये ही तोकों सुख की दाता, और हितू कोउ नाहीं।
आगे बहु मुनिराज भये हैं, तिन गहि थिरता भारी,
बहु उपसर्ग सहे शुभ पावन, आराधन उर धारी।। २९।।
तिनमें कछु इक नाम कहूँ मैं, सो सुन जिय चित लाके,
भाव सहित वन्दे यदि तासौं, दुर्गति होय न ताके।
अरु समता निज उर में आवै, भाव अधीरज जावै,
यों निश दिन जो उन मुनिवर को ध्यान हिये बिच लावै।। ३०।।
धन्य ! धन्य !! सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरजधारी,
एक स्यालनी जुग बच्चा जुत, पाँव भख्यो दुखकारी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३१।।

धन्य ! धन्य !! जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो,
तो भी श्री मुनि नेक डिगे नहिं, आतम सौं हित लायो।
यह उपसर्ग सह्योधर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३२।।
देखो गज मुनि के सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी,
शीश जले जिम लकड़ी तिनको, तो भी नाहिं चिंगारी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३३।।
सनत्कुमार मुनी के तन में, कुष्टवेदना व्यापी,
छिन्न-भिन्न तन तासों हूवो, तब चिन्त्यो गुण आपी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३४।।
* एणिक सुत गंगा में डूब्यो, तब जिन नाम चितार्‌यो,
धर सलेखना परिग्रह छोड्यो, शुद्ध भाव उर धार्‌यो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३५।।
समन्तभद्र मुनिवर के तन में, क्षुधा वेदना आई,
तो दुःख में मुनि नेक न डिगियो, चिन्त्यो निजगुण भाई।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३६।।
ललित घटादिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बी तट जानो,
नदी में मुनि बह कर मूवे, सो दुःख उन नाहिं मानो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३७।।
धर्मघोष मुनि चम्पानगरी, बाह्य ध्यान धर ठाड़ो,
एक मास की कर मर्यादा, तृषा दुःख सह गाढ़ो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३८।।
श्रीदत मुनि को पूर्व जन्म को, बैरी देव सु आके,
विक्रिय कर दुःख शीत तनो सो, सह्यो साधु मन लाके।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ३९।।
वृषभसेन मुनि उष्ण शिला पर, ध्यान धर्‌यो मन लाई,
सूर्यघाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सही अधिकाई।

यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४०।।
अभयघोष मुनि काकन्दीपुर, महावेदना पाई,
बैरी चण्ड ने सब तन छेद्यो, दुःख दीनो अधिकाई।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव-भारी।। ४१।।
विद्युच्चर ने बहु दुःख पायो, तो भी धीर न त्यागी,
शुभ भावन सौं प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४२।।
पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घाता,
मोटे-मोटे कीट पड़े, तन, ता पर निजगुण राता।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४३।।
* धन्य नाम के मुनि की देही, बाणन कर अरिभेदी,
ता पर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपुछेदी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४४।।
अभिनन्दन मुनि आदि पाँच सौ, घाणी पेलि जु मारे,
तो भी श्री मुनि समताधारी, पूरब कर्म विचारे।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४५।।
चाणक मुनि गौधर के माँही, मूँद अगिनि पर जाल्यो,
श्री गुरु उर समभाव धारकै, अपनो रूप सम्हाल्यो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४६।।
सात शतक मुनिवर दुःख पायो, हथनापुर में जानो,
बलि ब्राह्मण कृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहिं मानो
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४७।।
लोहमयी आभूषण घड़ के, ताते पर पहराये,
पाँचों पाण्डव मुनि के तन में, तौ भी नाहिं चिगाये।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु-महोत्सव भारी।। ४८।।

और अनेक भये इस जग में, समता रस के स्वादी,
वे ही हमको हो सुखदाता, हर है टेव प्रमादी।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप, ये आराधन चारों,
ये ही मोकों सुख की दाता, इन्हें सदा उर धारो।। ४९।।
यों समाधि उर माहीं लावो, अपनो हित जो चाहो,
तज ममता अरु आठों मद को, ज्योतिस्वरूपी ध्याओ।
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामान्तर के काजै,
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ के कारण साजै।। ५०।।
मात-पितादिक सर्व कुटुम्ब सब, नीके शकुन बनावै,
हल्दी धनिया पुंगी अक्षत, दूध-दही फल लावै।
एक ग्राम जाने के कारण, करैं शुभाशुभ सारे,
जब परगति को करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे।। ५१।।
सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागै, तोहि रुलावैं सारे,
ये अपशकुन करैं सुन तोकों, तू यों क्यों न विचारे।
अब पर गति की चालत विरियाँ, धर्मध्यान उर आनो,
चारों आराधन आराधे, मोह तनो दुःख हानो।। ५२।।
होय निःशल्य तजो सब दुविधा आतमराम सु ध्यावो,
जब पर गति को करहु पयानो, परम तत्त्व उर लावो।
मोह जाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो,
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो।। ५३।।
दोहा—मृत्यु-महोत्सव पाठ को, पढ़ो-सुनो बुधिवान।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द शिवथान।। ५४।।
पंच उभय नव एक नभ, संवत सो सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय।।

भावना

इतना तो कर दो भगवन्।
जब प्राण तन से निकलें।। १।।

बैरी मेरे बहुत से, होवें जो इस जगत में।
उनसे क्षमा करालूँ, जब प्राण तन से निकलें।। २।।

माता पिता भी जितने, हैं ये कुटुम्ब सारे।
उनसे ममत्व छूटे, जब प्राण तन से निकलें।। ३।।

परिग्रह का जाल मुझ पर, छाया बहुत है स्वामिन् !
उनका भी त्याग कर दूँ, जब प्राण तन से निकलें।। ४।।

दुष्कर्म दुःख दिखावें, या रोग मुझको घेरे
प्रभु का न ध्यान छूटे, जब प्राण तन से निकलें।। ५।।

हे ईश ! प्रार्थना है, विनती पे ध्यान दीजे।
होवे सफल मनोरथ, जब प्राण तन से निकलें।। ६।।

इतना तो कर दो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें।
होवे समाधि पूरी, जब प्राण तन से निकलें।। ७।।

समाधिमरण भावना

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ।। टेक।।

शत्रु अगर हों कोई, सन्तुष्ट उनको कर दूँ।
समता का भाव धर कर, सबसे क्षमा कराऊँ।।

त्यागूँ अहार-पानी, औषधि विचार अवसर।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ।।

जागें नहीं कषायें, नहिं वेदना सतावें।
प्रभु (तुम) से ही लौं लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ।।

आत्मा स्वरूप, वाचतु-आराधना विचारूँ।
अरहन्त-सिद्ध-साधू, रटना यही लगाऊँ।।

धर्मात्मा निकट हों, चर्चा धरम सुनायें।
वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ।।

जीने की न हो वाञ्छा, मरने की हो न इच्छा।
परिवार-मित्र जन से, मैं मोह को हटाऊँ।।

जागे जो भाग्य पहिले, उनका न होवे सुमरण।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ।।

वृष तीन रत्न पालन, हो अन्त में समाधि।
बस प्रार्थना यही है, जीवन सफल बनाऊँ।।

जब प्राण तन से निकलें

ऐसा समय हो भगवन्, जब प्राण तन से निकले।
नवकार जपते-जपते, मम प्राण तन से निकलें।। टेक।।

ये क्रोध मान माया, अरु लोभ जो बताया।
चारों कषायें छूटें, जब प्राण तन से निकलें।।
ऐसा समय.....

नहीं बैर हो किसी से, सम भाव होय सबसे।
शाँति क्षमा हो मन में, जब प्राण तन से निकलें।।
ऐसा समय.....

ये कर्म जो दुखेरे, लागें हैं संग मेरे।
इनसे मैं मुक्त होऊँ, जब प्राण तन से निकलें।।
ऐसा समय.....

होवे मरण समाधी, व्यापे न मोह व्याधी।
घट में हो ध्यान मेरा, जब प्राण तन से निकले।।
ऐसा समय.....

वस्तु स्वरूप निरखूँ, प्रभु ! आत्म गुण निहारूँ।
निज में हो ध्यान मेरा, जब प्राण तन से निकलें।।
ऐसा समय.....

भक्ती में रत हूँ तेरी, शुद्धात्मा हो मेरी।
प्रभु नाम भजते-भजते, मम प्राण तन से निकले।।
ऐसा समय.....

कर जोड़ अर्ज मेरी, काटो करम की बेड़ी।
सम्यक्त्व होय पैदा, जब प्राण तन से निकलें।।
ऐसा समय.....

—: इति :—